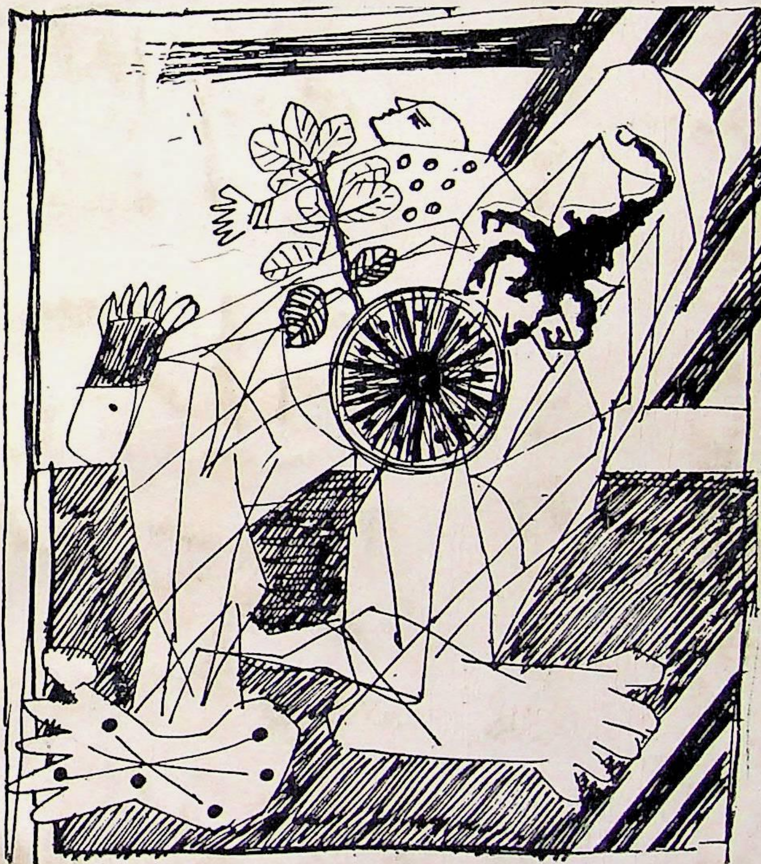
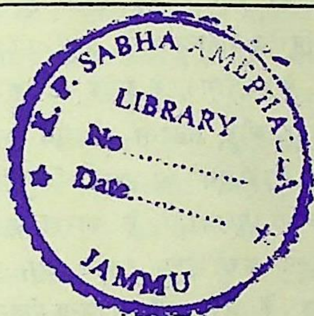
शीराज़ा
हिन्दी



जे० एण्ड के० अकादेमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहूर मार्ग, जम्मू ।

द्विमासिक **शीराज़ा** हिन्दी

अगस्त - नवम्बर 1982



63

अपनी बात

पिछले दिनों दिल्ली और जम्मू में दो महत्वपूर्ण साहित्यकार सम्मेलन आयोजित हुए। इनमें उठाए गए मुद्दों से अपने पाठकों को अवगत करवाने के लिए उनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है—इस उम्मीद के साथ कि सभागारों में लेखकों के एक सीमित वर्ग के बीच हुई बहसों को व्यापक स्तर पर चर्चा का विषय बनाया जा सके और इन सम्मेलनों की उपयोगिता पर विचार किया जा सके।

●

भारतीय ज्ञानपीठ ने 25 और 26 अक्तूबर को नई दिल्ली के त्रिवेणी कला-संगम के सभागार में साहित्यकार सम्मेलन का आयोजन किया था। इसमें समस्त भारत से भारतीय भाषाओं के प्रमुख लेखकों ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्घाटन बंगला के प्रतिष्ठित कथाकार श्री विमलमित्र ने किया तो सभापतित्व किया साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष, श्री उमा शंकर जोशी ने। इस अवसर पर साहित्यकार सम्मेलन के आयोजन की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए ज्ञानपीठ के न्यासधारी मण्डल के अध्यक्ष श्री श्रेयांस प्रसाद जैन ने पिछले दिनों लन्दन में हुए एक साहित्यिक समारोह के संदर्भ में कहा कि अभी भी भारतीय भाषाओं के साहित्य को दूसरी श्रेणी का अधिकारी ही समझा जाता है। ऐसे में एक ऐसे फोरम की आवश्यकता को सहज ही महसूसा जा सकता है जो सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को एक मंच पर मिल-बैठ कर अपनी-अपनी समस्याओं का सांझा करने का अवसर प्रदान करे। इस प्रकार के सम्मेलन भारतीय साहित्य सम्बन्धी उपर्युक्त भ्रामक धारणा का निराकरण करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

'साहित्यकार सम्मेलन' में चर्चा का मूल मुद्दा था—'समाज-परिवर्तन में

भूमिका ।' इस एक विषय पर तीन सत्रों में तीस से ऊपर विद्वान लेखकों ने अपने विचार व्यक्त किए। प्रायः सभी वक्ता भारतीय समाज की वर्तमान व्यवस्था (या अव्यवस्था) को लेकर चिंतित दिखाई दे रहे थे किन्तु साहित्यकार की भूमिका को लेकर उनके मन में किसी प्रकार का संशय दिखाई नहीं देता था। ऐसे लेखकों को छोड़ कर, जिन में स्वयं मैं भी शामिल हूं, लेखकों का एक बड़ा वर्ग इस भ्रम को पाले हुए था कि समाज परिवर्तन में साहित्यकार प्रभावी भूमिका निभा सकता है, निभा रहा है।

बात किस पक्ष की ज्यादा सही है, इस पर विचार करने के लिए डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के ये विचार अच्छा आधार बन सकते हैं—"इस देश में विरोध की भी एक व्यवस्था बन गई है। इस विरोध-प्रतिष्ठान के पास भी साधन हैं अतः पहचान-प्रकाशन-पुरस्कार-प्राप्ति और प्रभाव के प्रलोभन से अनेक लेखक आकर्षित होकर वाम विकल्प को विकृत कर रहे हैं और चेतना और संवेदना की मूल विकृति के कारण, उनकी रचनाओं में भी, उनके व्यवहार की तरह, एक छद्म का जाल दिखाई पड़ता है अतएव गलत ढंग की एकांगी, अन्तर्मुख और गुटपरस्त पक्षधरता के कारण मूल्यांकन में बाधा पड़ती है।" इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा, इस मिश्रित स्थिति, मिश्रित मनः स्थिति और मिश्रित व्यवहार के प्रपंच और तज्जन्य पीड़ा को, गैर-दब्बू, उग्र और अमिश्रित जन-चेतना ही तोड़ सकती है।" उधर महेन्द्र कार्तिकेय की दृष्टि में, विचार से शाश्वत और खतरनाक अस्त्र न कुछ था, न है और न हो सकता है...साहित्यकार की सामाजिक परिवर्तन की भूमिका अविवादीय है मगर जो सही अर्थों में साहित्यकार नहीं हैं, उनकी भूमिका क्या हो सकती है या होगी, वही भली-भांति जान सकते हैं।" उनका निश्चित मत था कि, "साहित्यकार की भूमिका मनुष्य को पुनः पुनः अर्थवत्ता प्रदान करने की है।" प्रश्न यह है कि हम किस 'अर्थवत्ता' की बात करें? गोविन्द मिश्र का यह कथन वास्तविकता पर आधारित लगता है कि, "लेखक समाज को बदल सकता है – इस बात को एक आस्था के रूप में पालना एकदम अलग तरह की बात है...हम उस ज़माने में हैं, जब मनुष्य इस लिए साहित्य भी—तलछट में ढकेल दिए गए हैं।...हमारे चारों तरफ फैली विचार-धाराएं हैं, जिन पर उन्हें भी विश्वास नहीं, जो उन पर अमल करने का ढिंढोरा पीटते रहते हैं।" फिर भी वे आश्वस्त थे कि, "आज के समय में जब हर चीज़ मनुष्य को और छोटा करते चले जाने के लिए दौड़ रही हो, वहां साहित्य ही अंततः मनुष्य को बचाए रखेगा।" गोविन्द मिश्र के मन्तव्य को आगे बढ़ाते हुए मंजुल भगत का मत था, "यदि लेखक जीवन से और मानव से जुड़ा है तो यकीनन पाठक भी उससे जुड़ा रहेगा। जुड़ने का अर्थ ही है, आत्मसात होना, कुछ जज्ब करना, अपना कुछ अंश दूसरों में घुलने देना। इतना होने पर कुछ न कुछ परिवर्तन तो आयेगा ही।" इस परिवर्तन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में ओम प्रकाश 'निर्मल' का कहना था, 'वह नितान्त सहज, परोक्ष और गोपनीय होती है।' उनका यह भी मत था, "लेखक बेचारा तो युगों-युगों से अपने वक्त की सच्चाई को निर्भीकता से चित्रित करता आ रहा है। निरन्तर लिखते रहना ही उसकी भूमिका है।" युवा लेखक

विक्रम कुमार की मानसिकता बिलकुल दूसरी थी। उनका कहना था, 'लेखक का काम समाज से लोहा मोल लेने से किसी भी प्रकार कम नहीं है, उसके लेखन-संघर्ष की मात्रा जितनी ज्यादा होगी, उसी से समाज परिवर्तन में उसकी भूमिका निश्चित की जा सकती है।" किन्तु वे इस बात से दुखी थे कि, "वर्तमान परिस्थितियों में समाज के प्रति लेखक की भूमिका शोचनीय है। लेखन जारी है, परन्तु समाज चुप है।" विष्णुकान्त शास्त्री ने इसका उत्तर पहले सत्र में ही यह कह कर दे दिया था—"आज के लेखक बात करते हैं, कीमत नहीं चुकाते। इस तरह के लोग परिवर्तन कैसे कर सकते हैं ?" इसी सत्र में जगदीश गुप्त ने अपनी बात अधिक बेबाकी से की। उन्होंने कहा—"साहित्य की समग्र भूमिका परिवर्तन की नहीं है... आप जनवादी सत्ता की बात करते हैं तो हमें आप सत्तावादी जन दिखाई देते हैं," ऐसे में साहित्यकार "समाज का परिवर्तन तो बाद में करेगा, पहले अपना तो करे।" ये शब्द मानो ज़ख्म पर सीधे उंगली रखने वाले थे। इसी संदर्भ में जहां एक ओर महीपसिंह यह मानते थे कि "साहित्य परिवर्तन का माध्यम बने, यह बात इस देश में कभी नहीं रही" वहीं प्रदीप पंत का मत था, "समाज-परिवर्तन में लेखक की कोई भूमिका नहीं होती। वह तो प्रचार-साहित्य का काम है।" जैनेन्द्र कुमार ने समस्या के एक अन्य पहलू की ओर इंगित करते हुए कहा कि 'प्रहार देने की क्षमता साहित्यकार में है ही नहीं...लेखक की सबसे बड़ी मांग है अपने को रिक्त करने की, द्वंद्व से रिक्त करने की अनिवार्यता। साहित्य की सृष्टि द्वंद्व-मुक्ति से होती है।" चन्द्रकांत बांदिवडेकर भी सम्भवतः इसीलिए साहित्य को सभी रोगों का रामबाण इलाज मानने में अपने को असमर्थ पा रहे थे। समस्या के एक अन्य पक्ष को बेनकाब करते हुए मैंने कहना चाहा कि साहित्यकार और पाठक का साक्षात्कार आज प्रकाशक के माध्यम से सम्भव है अतः आवश्यक है कि प्रकाशकीय तंत्र से लेखक को मुक्ति दिलाने पर विचार किया जाये तभी हम यह कह सकेंगे कि साहित्यकार समाज-परिवर्तन में कोई भूमिका निभाने में समर्थ है। इसी संदर्भ में डा० रघुवंश का यह कथन महत्त्वपूर्ण हो उठता है—"सच्चे अर्थ में लिखे जाने वाले साहित्य का बाज़ार बना नहीं, बनाने का प्रयत्न ही नहीं हुआ।" तभी तो काशीनाथ सिंह जैसे साहित्यकार पुलिस के साथ हुई मुठभेड़ से परेशान और आहत होकर कागज-कलम लेकर उपन्यास रचना करते हुए उसे ही 'अपना मोर्चा' मानकर संतोष प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी ओर कुरतुल-एन-हैदर जैसी लेखिकाएं जहां एक ओर उमा शंकर जोशी की भांति यह मानती हैं कि 'कोई भी साहित्यकार अपने आसपास के सामाजिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना रचना नहीं करता' वहीं यह भी कहती सुनी जा सकती हैं कि उनका काम मात्र 'रचना' करना है और बस ! शेष चिन्ताएं वे दूसरों पर छोड़ देती हैं।

●

ऐसी ही चिन्ताओं से दो-चार हुए थे लेखक फिर एक बार ३०-३१ अक्तूबर १९८३ को जम्मू के अभिनव थियेटर में जहां स्थानीय युवा हिन्दी लेखक सघ ने एक दो-दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया था। इस अवसर पर जहां देवेन्द्र इस्सर तीसरी दुनिया के

लेखन से गुम होते हुए हीरो की तलाश के बहाने आम आदमी की नियति को लेकर चिन्ता प्रकट कर रहे थे तो 'साहित्य और क्रांति' की समस्या से दो-चार थे श्री चन्द्रकांत बांदिवडेकर। अपनी रचना-प्रक्रिया के माध्यम से जन-सामान्य की चिन्ताओं को पौराणिक लेखन के संदर्भ में उजागर किया था डा० नरेन्द्र कोहली ने। श्री विष्णु प्रभाकर की भी प्रमुख चिन्ता आज के आदमी के भविष्य को लेकर ही थी। हीरो का रूप चाहे बदला हो, हीरो का पूरी तरह गुम हो जाना—जैसा कि कुछ पश्चिमी उपन्यासों में हुआ है—साहित्य को कलात्मक संदर्भों से अलग हटाता ही है। हमारे यहां तो कविता भी पात्रों तथा उनसे जुड़ी घटनाओं के सहारे आगे बढ़ने लगी है।

श्री श्रेयांस प्रसाद जैन द्वारा प्रस्तुत प्रश्न कि भारतीय साहित्य को दूसरे दर्जे का साहित्य माना जाने लगा है, सम्मेलन का मुख्य मुद्दा न होने के कारण अचर्चित ही रह गया। कहीं ऐसा तो नहीं कि भारतीय साहित्य विश्व साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सचमुच दूसरे ही दर्जे का अधिकारी है? आत्म-निरीक्षण बिना किसी पूर्वग्रह के हो, इसी में हमारा तथा भारतीय साहित्य का हित है।

●

इन दोनों सम्मेलनों में भाग लेने के बाद ऐसे सम्मेलनों की सार्थकता पर लगाए जाने वाले प्रश्न-चिन्हों की 'सार्थकता' पर यदि संदेह होने लगे तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। मेरे विचार में इस प्रकार के सम्मेलन संवाद की स्थिति को जन्म देते हैं और संवाद से निष्कर्ष जन्म लेते हैं। समकालीन साहित्यकार लाख अपनी उन्नति एवं प्रगति की चिन्ता में घुला जा रहा हो तो भी यह कहना असंगत न होगा कि उसकी चिन्ता का एक प्रमुख विषय समकालीन आदमी भी है जिसकी नियति को समकालीन सन्दर्भों में रखकर देखते हुए उसे निराशा के सिवा कुछ भी दिखाई नहीं देता, यह अलग बात है कि यह निराशा ही उसे भविष्य को साफ-साफ देख पाने तथा 'परिवर्तन' की सही दिशाओं का अन्दाज़ा लगाने की दृष्टि प्रदान करती है।

—रमेश मेहता

जम्मू - कश्मीर के सांस्कृतिक उत्थान को समर्पित,
भारत के महान सपूत,
अकादेमी के अध्यक्ष, शेरे - कश्मीर

शेख मुहम्मद अब्दुल्ला

के निधन पर
'शीराज़ा' परिवार की हार्दिक श्रद्धांजलि

विशेष लेख

काव्य की चुनौतियां और सिद्धांतों की तलाश

अज्ञेय के काव्य सिद्धांत

—डा० चन्द्रकांत बांदिवडेकर

अज्ञेय के काव्य विषयक चिन्तन का अनेक दृष्टियों से महत्व है। अज्ञेय में एक महत्वपूर्ण कृति साहित्यकार और सैद्धांतिक चिन्तक का मणिकांचन संयोग मिलता है। वैसे हिन्दी कविता का यह सौभाग्य रहा है कि छायावाद काल से ही कवित्व शक्ति और चिन्तन क्षमता से समन्वित व्यक्तित्व वाले मनीषी कवि हिन्दी को उपलब्ध हुए। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा की कविता में जो शक्ति आयी, उसमें उनके सचेत चिन्तनशील स्वभाव का योगदान महत्वपूर्ण है और उसके काव्य विषयक चिन्तन में जो स्वानुभूति का बल सन्निहित हुआ, उससे काव्य के कथ्य, शिल्प, माध्यम विषयक कतिपय ऐसी बातें सशक्त रूप में सामने आयीं जो केवल सैद्धांतिक चिन्तक की पकड़ में आना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। 'पल्लव' की भूमिका में शब्द विषयक चेतना एवं शब्द के स्वर सौंदर्य की अद्भुत पहचान, निराला का कविता के शिल्प संबंधी जागरूक चिन्तन, प्रसाद का काव्यानुभव संबंधी संबोधि ज्ञान से उपलब्ध ज्ञान तथा महादेवी वर्मा की काव्यानुभव संबंधी प्रखर आत्मनिष्ठा का विवेचन—ये कुछ इनेगिने संकेत हैं जो उपर्युक्त बात को स्पष्ट करने में शायद समर्थ हैं। इसी परम्परा में अज्ञेय का काव्य विषयक चिन्तन महत्वपूर्ण माना जा सकता है, वस्तुतः अज्ञेय के लिए काव्य विषयक चिन्तन कुछ अधिक कठिन कर्म भी था, छायावादी कवि चिन्तकों का अत्यधिक बल संबोधि ज्ञान या सहज ज्ञान पर था, उसमें अध्ययन और विश्लेषण का भी स्थान नगण्य नहीं था परन्तु कुल रुख विश्लेषण की ओर अधिक था और उसमें आत्मानुभूति या आत्मानुचिंतन का सहज बल था, अज्ञेय को बौद्धिक प्रक्रिया के हथियार अधिक तेज रखने पड़े, काव्येतर ज्ञान शाखाओं के काव्य-क्षेत्र पर अतिक्रमण के कारण वैज्ञानिक विश्लेषण प्रणाली को अपनाकर अपने सहज आयत्त सूत्रों को अथवा वेष्टित निष्कर्षों को तर्क और युक्ति की तेज धार से प्रभावकारी बनाना पड़ा। कुछ

सरलीकरण का दोष स्वीकार करके यह कहना पड़ेगा कि छायावादी कविता की प्रमुख प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति थी और उनके चिन्तन में भी उसकी अधिकता सहज थी। अन्य सहवर्ती विरोधी विचारधाराओं को अपनी स्वानुभूति के बल पर अनदेखा भी किया जा सकता था। अज्ञेय की कविता में आत्माभिव्यक्ति अनेक प्रेरणाओं में से एक थी और शायद 'आत्म' में सहजता भी नहीं रह गई थी, अतः उनके चिन्तन में भी केवल उसी के बल पर काम नहीं निभने वाला था।

इस जटिलता का थोड़ा अधिक विवेचन आवश्यक है जिस से उन कठिनाइयों का या चिन्तन परिवेश का कुछ धुंधला चित्र उभर कर सामने आये।

वैसे कविता बनाम विज्ञान का द्वन्द्व पश्चिम में तीन सौ से अधिक वर्ष पुराना है। भारत में इसका तीखा दंश छायावादी कवियों ने प्रथम बार अनुभूति के धरातल पर महसूस किया, परन्तु सहज विश्वास एवं भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के प्रति सुदृढ़ सम्बद्धता के कारण यह दंश उतना प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो सका। अज्ञेय के साथ वह स्थिति उतनी सहज नहीं रही। नागर जीवन का अबाध अतिक्रमण (छायावादी कवियों का समस्त सौंदर्य-बोध कृषि संस्कृति में पुष्ट है। अज्ञेय को अपनी सांस्कृतिक जड़ों को नागर सभ्यता के साथ टकरा कर जीवित रखना पड़ा। यह तथ्य उनकी कविताओं से प्रमाणित होता है।)

स्वप्न में खो जाने, आदर्शों के भव्य उत्तुंग शिखर देखने तथा बिना वैचारिक अंतर्विरोधों के तीखे एहसास के पुराचीन संस्कृति में जाज्वल्य आस्था रखने की सुविधा अज्ञेय को नहीं थी, राष्ट्रीयता की प्रबल अनुभूति को बाह्य यथार्थ की असलियत को अनदेखा कर व्यक्त करने की स्थिति भी नहीं मिली, भारतीय एवं पश्चिम के विवादी विचारों को केवल "पश्चिमी" कह कर दूर हटा सकने की अवस्था नहीं रही थी, क्योंकि वास्तविकता विवादी स्वरों के साथ सामंजस्य खोजने की ओर बलात् ठेल रही थी। परिणामतः अज्ञेय के अनुभव संचयन में तनाव ही तनाव था, यह स्वाभाविक था कि अनुभव ग्रहण करने से लेकर शब्दों के माध्यम से उसे व्यक्त करने तक की प्रक्रिया में अज्ञेय ने एक तनाव को अनुभव किया—यह पश्चिमी विचारकों का प्रभाव नहीं था, जीवन की वास्तविकता थी और उस वास्तविकता के लिए कुछ पश्चिमी चिन्तन उपयोगी साबित हुआ। लेकिन यह विवेचन अधूरा रहेगा, अगर काव्यानुभव को "तनाव" की भाषा में ही व्यक्त किया जाये। क्योंकि तनाव में दो विरोधी खूंटियों में खिच कर, ऐंठकर एकाग्र बने तार का बोध होता है। अज्ञेय की चिन्तना एवं कविता का समग्र वर्णन करने के लिए और आगे बढ़ना जरूरी है—इस तनाव के सहारे ही सामंजस्यपूर्ण संगीत की स्वरावली व्यक्त होती है जिसका कुछ-कुछ साम्य विरोधी-अविरोधी संचारियों के एकमेक होकर परिपुष्ट हुए सामंजस्यपूर्ण भाव से समझा जा सकता है। परन्तु इसका अधिक विवेचन काव्य-स्वरूप की ओर ले जायेगा।

अज्ञेय ने साहित्य निर्माण करने वाले बौद्धिक मध्यम वर्ग की मानसिकता का जो चित्र खींचा है, उसमें आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज माना गया है।

इस अवस्था के लिए जिम्मेदार न केवल वासना है बल्कि भारतीय सामाजिक परंपराएं, आर्थिक सुविधाओं का स्तर, स्त्री-पुरुष संबंधों की रूढ़ि और नैतिकता की अधूरी कसौटियां, सब कुछ हैं। यह शायद कहा जा सकता है कि इस वास्तविकता को अधिक बलपूर्वक विवेचित करने की आवश्यकता 'पहले सप्तक' में ही थी परन्तु यह तब भी नहीं कहा जा सकता था कि इसे विशेषता के रूप में गौरवान्वित किया गया था। बल्कि 'विकृति' के स्तर पर ही रखकर देखा गया था। उसी समय 'प्रेम' का वर्णन भी विश्वास की निष्कंप अवस्था से कुछ नीचे—कुछ ही नीचे रखकर किया गया था। यौन परिकल्पनाओं के उदात्तिकरण की संभावनाएं भी इनके लिए कम थीं।

स्पष्ट है, अज्ञेय कवि के मानस का, दायित्व का, कर्म का विवेचन उसे एक अलग 'द्वीप' मानकर नहीं करते थे, समस्त परिवेश-सांस्कृतिक, साहित्यिक, राजनीतिक और सामयिकता के उलझे वैचारिक, भावनात्मक तंतुओं के बीच ही कवि-कर्म की जटिलता का विवेचन करते रहे। परिवेश और कवि-कर्म की जटिलता, बाह्य यथार्थ और कवि का अपना स्वार्थ, तथ्य और सत्य, परंपरा और प्रयोग, ये सारे द्वंद्व या तनाव अज्ञेय के काव्य चिंतन में बार-बार विवेचित होते रहे हैं और इनके बीच संतुलन का जो लक्ष्य सिद्ध किया गया है, वह टकराहट के बीच से गुजर कर किया गया है।

अज्ञेय के काव्य विषयक चिंतन पक्ष को देखते समय एक महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह ध्यान में आता है कि कवि प्रतिभा से लेकर काव्य की लय तक के प्रायः समस्त महत्वपूर्ण विषय अज्ञेय ने छुए हैं। यह कहा जा सकता है कि उनके विभिन्न सूत्रों को एकत्र कर दिया जाय तो एक सम्यक् काव्य-दर्शन हाथ में आता है।

जीवन और काव्यानुभव

किसी भी कला चिंतक को परेशानी में डालने वाली पहली समस्या जीवनानुभव और काव्यानुभव के संबन्धों की है। यह समस्या इतनी मूलभूत और जटिल है कि अन्य कतिपय समस्याएं इसी के अंतर्गत समाविष्ट होती दीखती हैं। अज्ञेय ने इस समस्या पर प्रारम्भ से लेकर आज तक लगातार चिंतन किया है। काव्यानुभव की एकरूपता, काव्यानुभव की अलौकिकता और काव्यानुभव और जीवनानुभव की समता या उनके अन्तस्संबंधों को स्वीकार करते हुए भी काव्यानुभव की स्वायत्तता लौकिक अनुभव की अलौकिकता—लौकिकता में अलौकिकता ये तीन पक्ष हैं और अज्ञेय निस्सन्देह तीसरे पक्ष के समर्थक दीखते हैं। यह कुछ आलोचकों की तर्क-विकृति का परिणाम है या अधूरी समझ का जो अज्ञेय को कलावादी (द्वितीय पक्ष) मानते हैं जबकि उस अर्थ में निरे कलावादी होने का जब तब अज्ञेय ने खंडन ही किया है।

काव्यानुभव के संबंध में विचार करते समय अज्ञेय ने परिवेश और काव्यानुभव के संबंधों का पर्याप्त स्पष्ट विवेचन किया है। साहित्यिक—कोई भी कलाकार—अनिवार्य रूप से अपनी परिस्थितियों का परिणाम होता है। वह अपने आसपास व्याप रहे संघर्ष का फल

है। उसमें आत्यन्तिक संतुलन नहीं है, न कभी हो सकता है। साहित्यकार होने के नाते ही वह चंचल है, अस्थिर है, असंतुष्ट है।

उसकी यही अस्थिरता और असंतोष उसको घेरने वाले बाहरी संघर्ष का भीतरी प्रतिरूप हैं। साहित्य—या कैसी भी कलात्मक रचना-सृष्टि—इस मौलिक संघर्ष का नतीजा है, इसे हल करने के लिए कलाकार के प्राणों का उत्कट प्रयास है......कला संघर्ष का फल है। अतः कलाकार अनिवार्य रूप से गति मात्र है, उसमें एक बलवती प्रेरणा काम कर रही है जो उसे स्थिर रहने नहीं देती, और जिसके दबाव के कारण वह किसी प्रकार के सामंजस्य की ओर बढ़ता है। परिवेश और कलाकार के वास्तविक और इच्छित सबंधों का यह विवेचन अंत तक मिलता है।..."भवन्ती" में अज्ञेय लिखते हैं, "कविता का वास्तविकता से संबंध है, घनिष्ठ संबंध है। कल्पना, प्रातिभ ज्ञान, पर्यवेक्षण, सभी से कविता वास्तविकता को स्वायत, आत्मसात् करती है।"[2]

अनुभूति और सभ्यता के बदलते संबंधों का और कवि के दायित्व का विश्लेषण करते हुए अज्ञेय लिखते हैं : "यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गये हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले, प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक संबंधों की प्रणालियां बदल गयी हैं, और कवि का क्षेत्र रागात्मक संबंधों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। निरे "तथ्य" और "सत्य" में—या कह लीजिए, "वस्तु सत्य और व्यक्ति सत्य" में—यह भेद है कि "सत्य" वह "तथ्य" है जिसके साथ हमारा रागात्मक संबंध है बिना इस संबंध के वह एक बाह्‌य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे जैसे बाह्‌य वास्तविकता बदलती है, वैसे वैसे हमारे उससे रागात्मक संबंध जोड़ने की प्रणालियां भी बदलती हैं—और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्‌य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है। कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक सबंध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्‌य वास्तविकता मानते हैं जबकि हम उससे वैसा संबंध स्थापित करके उसे आंतरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएं आरंभ होती हैं।"[3] इस विस्तार में उद्धृत अवतरण को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो वास्तविकता और कवि-कर्म, बाह्‌य यथार्थ (तथ्य) और कवि का यथार्थ (सत्य) के बीच का अंतर अत्यंत स्पष्ट हो जाता है और काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से उत्पन्न लौकिक वस्तु मानते हुए भी उसके कवि द्वारा उसको संस्कारित किये जाने पर बल देकर उसकी स्वायत्तता को सुरक्षित किया गया दिखायी दे सकता है। छायावादी कवियों के लिए, जब

तक वे छायावाद की सीमाओं में रहे, अनुभूति "गिवन" थी—प्रदत्त थी, उन्हें अनुकूल भाषा में व्यक्त-भर करना था। अज्ञेय के लिए यह अधिक द्वद्वात्मक संबंध को गर्भ में लिए अभिव्यक्ति के लिए अनेक स्तरों पर कवि द्वारा "आत्मदान" की मांग करती थी। अज्ञेय शास्त्रीय दार्शनिक नहीं हैं परन्तु वे उन आत्यन्तिक भाववादी विचारकों में नहीं आते जो बाह्य वास्तविकता को अनुभूति से परे अस्वीकृत ही करते हैं। लेकिन वे उन भौतिकतावादी विचारकों में भी नहीं आते जो सभी मूल्यों का स्रोत केवल ऐहिकता मानते हैं। अज्ञेय उन विचारकों के बीच हैं जो दृष्टि और सृष्टि दोनों की अस्ति स्वीकार करते हुए सभी मूल्यों का स्रोत इनकी टकराहट और सामंजस्य का सतत प्रयास मानते हैं। सृजनशील साहित्यकार के नाते वे व्यक्ति की सृजन प्रक्रिया और इससे सृजन को निश्चित ही स्वायत्त मानते हैं। लेकिन यह स्वायत्तता वास्तविकता या सामाजिकता से असंपृक्त नहीं है।

काव्यानुभूति का स्वरूप

अज्ञेय के लिए काव्यानुभूति जीवनानुभूति का पर्याय नहीं है, यद्यपि जीवनानुभूति से उसका घनिष्ठ संबंध है। अज्ञेय द्वारा वर्णित काव्यानुभूति का स्वरूप अधिक गहराई में जाकर देखना अभीष्ट होगा।

काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से विशिष्टता देने वाली महत्वपूर्ण बात काव्यानुभूति की प्रक्रिया ही है। जीवनानुभूति को काव्यानुभूति का स्वरूप देने वाली वस्तु कवि की आत्माभिव्यक्ति को दूसरों पर अभिव्यक्त करने की आंतरिक आकांक्षा है—सम्प्रेषण और साधारणीकरण की मांग है। अज्ञेय ने प्रारंभ से इस 'साधारणीकरण' पर बल दिया है। सप्रेषण की मांग का एक कारण जीवनानुभूति का कुछ ऐसा काव्योचित होना है जो कलाकार को यह सहज प्रेरणा देता है कि उसकी अनुभूति में कुछ महता है जिसका दूसरों के साथ सांझा करना होगा : जो अनुभूति केवल आत्माभिव्यक्ति तक सीमित रहती है, दूसरों पर अभिव्यक्त होने की आंतरिक आकांक्षा नहीं रखती, वह काव्य-सत्य नहीं है। साधारणीकरण को 'कवि-कर्म की मौलिक समस्या' मानते हुए अज्ञेय ने लिखा है कि, 'कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है।'[4] बिना शास्त्रीय परिभाषा का सहारा लिये यह कहा जा सकता है कि काव्यानुभूति की प्रेरणा संप्रेषण की होती है और इस संप्रेषण के लिए कवि को जो कलात्मक प्रयास करना पड़ता है, उसे 'साधारणीकरण' कहा जा सकता है।

प्रयोगवादी होने के आरोप का सशक्त विरोध करते हुए अज्ञेय ने दूसरे सप्तक की भूमिका में ही साधारणीकरण को काव्यानुभूति का अनिवार्य तत्व मानकर उसका पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया था। बाह्य यथार्थ और कवि का यथार्थ या तथ्य और सत्य के भेद को आलोकित करते हुए अज्ञेय ने लिखा है; 'कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक संबंध जोड़कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है।'[5] एक ओर कवि अपनी अनुभूति की विशिष्टता या अप्रतिमता को

बनाये रखना चाहता है, दूसरी ओर इस विशेषीकरण के युग में पाठकों और कवियों के बीच के संबंध भी उलझ गये हैं, साधारणीकरण का क्षेत्र संकुचित होने लगा है। इस स्थिति में काव्यानुभूति के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखकर उसे 'साधारण' बनाना—यूनिवर्सल बनाना एक कवि-कर्म की जटिल समस्या है परन्तु उसको झेले बिना निस्तार भी नहीं है। असल में इसके बावजूद अगर काव्य में दुर्बोधता आती है तो धर्म नहीं, आपद्धर्म है। 'जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा द्वारा गम्य [एसोटेरिक] हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है, धर्म नहीं, आपद्धर्म है।[6] साधारणीकरण के लिए या अनुभूति को 'साधारण' बनाने के लिए अनुभूति का सरलीकरण, स्पष्टीकरण, विशदीकरण, विवरण, निरूपण, निवेदन आवश्यक नहीं है क्योंकि यह गद्य का रास्ता है। अभिव्यक्त करना है अनुभूति को—यथावत् रूप में। 'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाये—यह पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।[7]

वस्तुतः प्रयोगवाद नामक एक काव्य प्रवृत्ति की ही कल्पना करना और अज्ञेय को उसका प्रवर्तक मानकर उन पर आरोपित करना एक आलोचना-कर्म की गैर-जिम्मेदाराना प्रवृत्ति है। अगर सही अर्थ में कोई प्रयोगवादी है तो प्रपद्यवादी। कहना न होगा कि अज्ञेय प्रयोग को कवि-सत्य को साधारण करने का अथवा दूसरों तक पहुंचाने का एक साधन मात्र मानते हैं जिसे अतिरिक्त महत्व देना आलोचना कर्म का घटिया स्तर है।

साधारणीकरण के संदर्भ में ही कुछ और बातों की भी विवेचना करनी चाहिए जिससे काव्यानुभूति के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। 'साधारणीकरण' में ही वस्तुतः कलात्मक दूरी या तटस्थता और आवश्यक तन्मयता का समावेशन होता है। अज्ञेय पर टी. एस. इलियट का प्रभाव दिखाते समय उनके जिन उद्धरणों का हवाला दिया जाता है, उनके संबंध में 'त्रिशंकु' की भूमिका में ही अज्ञेय ने स्पष्ट कहा है, रूढ़ि और मौलिकता टी. एस. इलियट के एक लेख का लगभग भावानुवाद है।[8] अतः इस लेख को अनावश्यक महत्व देकर पश्चिमी प्रभाव का आरोपण युक्ति-युक्त नहीं है। वस्तुतः टी. एस. इलियट के कुछ सिद्धांतों का 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया में ही समावेश होता है।

टी. एस. इलियट के सिद्धांत में कलाकार की अनुभव से दूरी या तटस्थता की बात कही गयी है। भोगने वाले और रचने वाले की इस दूरी पर अज्ञेय ने बल दिया है। लेकिन यह भारतीय सिद्धांत 'साधारणीकरण' में भी संकेतित है। कुछ उससे भी अधिक गहराई में जायें तो पता चलेगा कि भरत के नाट्यशास्त्र में ही 'लोकधर्मी' और 'नाट्यधर्मी' भेद किया गया है। 'साधारणीकरण' में अनुभव को उसके व्यक्तिगत अंश से असंपृक्त कर उसे सार्वजनीन या 'साधारण' बनाने की बात कही गयी है। वस्तुतः यह भी ध्यातव्य है कि इसी संदर्भ में अभिनेता का काव्यगत चरित्र, जिसका वह अभिनय कर रहा है, से संबंध भी 'अनुभव' से कलात्मक दूरी का संबंध है। असल में कलाकार, फिर वह साहित्यकार हो या अभिनेता,

कुछ अंतर्मुख होने पर सहज ही में यह अनुभव करता है कि उसके काव्यानुभव या कलानुभव में और जीवनानुभव में कुछ ऐसा अंतर है कि जिसके कारण 'साधारणीकरण' भी संभव बनता है और कलात्मक परितोष के विविध उपादान जीवनानुभव में प्रविष्ट होकर उसे एक भिन्न दर्जा दे देते हैं। 'कलाकार जितना ही बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील मन का यह अलगाव भी आत्यन्तिक होगा—अज्ञेय के द्वारा प्रस्तुत टी. एस. इलियट के इस वाक्यांश का अर्थ यह नहीं है कि कलाकार अनुभवहीन होता जाता है, ठंडा पड़ता जाता है, जीवन से दूर होता जाता है या उसका डिहूयमनाइजेशन होता है। इसका अर्थ इतना ही है कि तालस्ताय या दोस्तोवस्की के पात्रों एव उपन्यासों में वर्णित घटनाओं से उनके वैयक्तिक जीवन का सीधा संबंध नहीं। इसका अर्थ यह जरा भी नहीं कि अज्ञेय कलानुभव के ठंडेपन पर बल दे रहे हैं। प्रत्युत कलानुभव का वैशिष्ट्य बताते हुए उत्कटता या तीव्रता पर उन्होंने बार-बार बल दिया है। सामान्यत: भोगे हुए यथार्थ का उद्घोष करने वाले जीवनवादी ?[9] समीक्षक जीवनानुभव या यथार्थ को रचना का रूप देते समय सच्चे कलाकर को जो कल्पना के सस्कार जाने-अनजाने करने पड़ते हैं, उसके स्वरूप को ध्यान में नहीं लेते। मयूर के अंडे से मयूर के भावी रंग-सौंदर्य का जितना सबंध होता है, कुछ वैसा ही भोगे हुए यथार्थ और सरजे हुए कलानुभव का सबंध होता है—यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके बीच जो सर्जन प्रक्रिया होती है; उसमें अवचेतन मन का सक्रिय तत्व बहुत ही बड़ा होता है और इस प्रक्रिया में 'संयोग' पर इसीलिए बल देना होता है। जब तक अवचेतन मन के समस्त खेल की, कलानुभव में अंतर्हित संयोग तत्व की, जीवनानुभव के बीज के कलानुभव के भव्य पुष्पित वृक्ष में परिवर्तित होने की समस्त प्रक्रिया को वैज्ञानिक दृष्टि से बुद्धि की पकड़ में लाया जाकर विश्लेषित नहीं किया जा सकता तब तक इस समस्त प्रक्रिया को प्रतिभा की क्रीड़ा से अगर अभिहित किया जाये तो यह स्वाभाविक है, पश्चिमी चिन्तकों का इस प्रक्रिया को बुद्धि से पकड़ने का जो प्रयास चल रहा है, उसमें अंततः अवचेतन की अगम्य लीला का सहारा आज भी लेना पड़ रहा है। सुसान लैंगर ने इस प्रकार के प्रयास को अर्थात वैज्ञानिक प्रक्रिया से प्रतिभा को विश्लेषित करने की प्रतिज्ञा को पर्याप्त प्रमाणित न होने के कारण 'नादान, कृतक् वैज्ञानिक विश्वास' कहा है। यह दूसरा प्रसंग है अतः यहां संक्षेप में इतना ही कहना है कि टी. एस. इलियट भी एक परंपरा से चले आये विचार को अधिक स्पष्टता और बलपूर्वक प्रस्तुत कर रहे थे। इस संदर्भ में 'रूढ़ि और मौलिकता' के ये वाक्य ध्यातव्य हैं, 'वास्तव में कलाकार का मन एक भंडार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियां, शब्द, विचार, चित्र, इकट्ठे होते रहते हैं, उस क्षण की प्रतीक्षा में जबकि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चामत्कारिक योग नहीं उत्पन्न हो जायेगा—-इस सारी शब्दावली के लिए क्या टी. एस. इलियट के ही संदर्भ की आत्यन्तिक अनिवार्यता थी ?

काव्यानुभव की विशिष्टता का अज्ञेय ने अनेक प्रकार से विवेचन किया है एक ओर काव्यानुभव वैयक्तिक होता है और जिस अनुभव पर कवि-व्यक्तित्व की छाप नहीं होती, वह अनुभव कलानुभव नहीं हो सकता। तो दूसरी ओर वह साधारण भी होता है। 'अनुभव

की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता—प्रतिभा के ये दो इष्ट हैं। या कहा जाये कि इन दो ध्येयों का योग ही उसका इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना-प्रक्रिया है।[10]

विषय और वस्तु का अज्ञेय द्वारा किया गया विश्लेषण इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है, 'काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कंटेंट) अलग-अलग चीजें हैं, पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह बिल्कुल संभव है कि हम काव्य के लिए नया विषय चुनें, पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे, जैसे यह भी संभव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो। ......निस्संदेह देशकाल की संक्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति बहुत कुछ देखे-सुने और अनुभव करेगा, और इसलिए विषय के नयेपन के विचार का भी अपना स्थान है ही, पर विषय केवल 'नये' हो सकते हैं, मौलिक नहीं।

मौलिकता वस्तु से ही संबंध रखतो है

विषय संप्रेष्य नहीं है, वस्तु संप्रेष्य है। नये [या पुराने भी] विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं और उन प्रभावों को संप्रेष्य बनाने में कवि का योग [जो संपूर्ण चेतन भी हो सकता है, अतः चेतन भी और संपूर्णतया अवचेतन भी]—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का क्षेत्र है। कहां तक कवि नयी परिस्थिति को स्वायत कर सका है [आयत करने में रागात्मक प्रतिक्रिया थी, और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदन का पुतला-भर न बना रहकर उसे वश करके, उसी के सहारे उससे ऊपर उठकर उसे संप्रेष्य बनाता है], उसी से हम निश्चित करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है [और फिर संप्रेष्य के साधनों और तंत्र (टेकनीक) के उपयोग की पड़ताल करके यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाए]" इस विस्तृत उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इस में अज्ञेय के काव्यानुभव के घटकों एवं उनके परस्पर संबंधों के बारे में कतिपय विचार व्यक्त हुए हैं।

विषय और वस्तु के भेद का कारण स्पष्ट है। बहुत बार आधुनिक अथवा प्रगतिशील होने की आकांक्षा से नये विषय को ही काव्यवस्तु समझने की भूल हिन्दी साहित्य में हुई है। विषय को 'वस्तु' के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता एक प्रकार से कवि व्यक्तित्व से विषय को आत्मसात् करना है जो काव्य-सत्य की प्रथम शर्त है। इस उद्धरण में काव्य के विभिन्न घटकों के परस्पर सम्बन्ध का दिशा-निर्देशन भी है। जीवनानुभव के बीज को काव्य-क्षेत्र में लाने वाली रासायनिक शक्ति प्रतिभा होती है जिसे कल्पना भी कहा जा सकता है, लेकिन इस अनुभव को जब तक रागात्मक तत्व से स्वायत नहीं किया जाता तब तक वह काव्य का अनुभव नहीं होता। उसी तरह बुद्धि तत्व का भी पर्याप्त महत्व काव्यानुभव में होता है। इस से भाव में शक्ति उत्पन्न अवश्य होती है, अनुशासन भी उत्पन्न होता है...परन्तु यह बुद्धि तत्व रागात्मक तत्व का सहायक बन कर ही काव्य में समुचित कार्य

कर सकता है। काव्य के घटकों के सम्बन्ध के साथ अज्ञेय ने बड़े कवि होने की शर्त को भी प्रस्तुत किया है। वह शर्त है, 'नयी परिस्थिति का स्वागत कर सकना।' नयी परिस्थिति की पहचान भर साहित्यिक कृतित्व के लिए पर्याप्त नहीं है, उसे 'स्वागत' करना आवश्यक है। समकालीन साहित्य में यथार्थ के नाम पर जो परिवेश का ब्यौरेवार विवरण प्रस्तुत किया जाता है, ठंडेपन से परिवेश के चित्रांकन को आधुनिक समझा जाता है, उसके संदर्भ में उपर्युक्त विवेचन प्रासंगिक ही नहीं, हर साहित्यकार के लिए मनन करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी है।

काव्यानुभव के कुछ अन्य वैशिष्य भी अज्ञेय ने प्रस्तुत किये हैं। सौंदर्यशास्त्र की शास्त्रीय परिचर्चा में न उलझ कर उन्होंने ये संकेत दिये हैं—लय, वक्रता, संतुलन, नव्यता, गांभीर्य, सूचकता, सार्वभौमता—सौंदर्य-बोध के ये कुछ प्रतिमान हैं जिनके कारण काव्यानुभव जीवन से उदभूत होने पर भी विशिष्टता प्राप्त करता है। इस समस्त लेखन में सौंदर्यशास्त्री की तार्किक बहस एवं प्रस्तुतीकरण नहीं है, एक सर्जक कलाकार का सुचिन्तित मन्तव्य है। सौंदर्य वस्तु में है या दृष्टि में, सौंदर्य संबंधी संवाक्यों का स्वरूप क्या होता है, सौंदर्य जो प्रभाव डालता है, उसका विशुद्ध आनन्दमय या व्यामिश्र होता है इत्यादि समस्याओं की तात्विक और अमूर्त चर्चा अज्ञेय नहीं करते। एक स्वचेतन कलाकार की अपनी अनुभूति प्रक्रिया को बौद्धिक स्तर पर समझने, समझाने का प्रयास अज्ञेय करते हैं। चूंकि यह एक कलाकार का चिन्तन है, शायद कोरे तार्किक से अधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक भी माना जाना चाहिए।

काव्यानुभव और नीति

सौंदर्य और नीति के संबंधों का प्रश्न इस युग की एक जटिल समस्या रही है। एक समय सौंदर्यबोध शिवत्वबोध का समर्पित अनुवर्ती रहा जब साहित्यानुभव का अनुशासन धर्म के हाथ में था। पाठक या सामाजिक भी और लेखक भी इसमें किसी प्रकार की असहजता या स्वाधीनता के संकोच का अनुभव नहीं करते थे। आज के विशेषीकरण और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के युग में इन दोनों के बीच के पार्थक्य की कल्पना से दोनों का मन प्रश्नांकित है। अज्ञेय की इस सन्बम्ध में मूलभूत धारणा है: 'हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है।'[12] इस मूल प्रतिज्ञा से यह बात सहज ही निष्पन्न होती है कि कभी-कभार ऊपरी टकराहट दीख भी जाये, सौंदर्य-बोध और शिवत्व बोध में मूलभूत विरोध नहीं है। 'वास्तव में उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्च कोटि का सौंदर्य-बोध, कम-से-कम कृतिकार में साथ-साथ चलते हैं। क्यों? क्योंकि दोनों बोध मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार।'[13] यह दृष्टिकोण अज्ञेय के चिन्तन में 'त्रिशंकु' के लेखन समय में भी विद्यमान था। 'सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती' और यों भी कह सकते हैं कि प्रत्येक 'शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित है।

अथवा सच्ची कलावस्तु अंततः एक नैतिक मान्यता (इथिकल वैल्यू) पर आश्रित है, एक नैतिक मूल्य रखती है। हां, यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक श्रेष्ठतर नीति (इथिक) की बात कह रहे हैं, निरी नैतिकता (मॉरेलिटी) की नहीं।'[14]

कलाकार, विशेषतः साहित्य जैसी आशय को महत्व देने वाली कला का सर्जक, मानवीय जीवन के अनुभव की गहराई और व्यापकता में जैसे-जैसे संचरण करता जायेगा, वैसे-वैसे नैतिक समस्याओं से उसका गहन सम्बन्ध स्थापित होता जायेगा, क्योंकि मानवीय अनुभव का एक महत्वपूर्ण आयाम नैतिक अनुभव है। इस सम्यक् बोध को वही कलाकार अस्वीकार करेगा जो अनुभव की समग्रता को खंडित सत्य के लिए अनदेखा करना चाहेगा। अज्ञेय ने 'अंतरा' में स्पष्टतः लिखा है, 'नैतिकता बोध का न होना जीवन लक्ष्य का न होना है—और लक्ष्य रहित समाज या संस्कृति का नष्ट हो जाना ही स्वाभाविक है।[15] 'त्रिशंकु' से 'अन्तरा' तक यह मान्यता अबाधित रही है।

काव्यानुभव और आदर्श

यथार्थ, आज की साहित्यिक बहस में एक ऐसा शब्द प्रचलित है जो प्रायः अपने साहित्यान्तर्गत स्थान विशेष को अतिक्रमित कर साहित्य का ही पर्याय बनने लगा है। अज्ञेय ने स्थान-स्थान पर यथार्थ और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया है जिस का विवेचन इस लेख में किया गया है। युगीन फैशन के रूप में यथार्थवाद ने साहित्य की रचनाधर्मिता को ही निगलने का प्रयास किया है और पाठक के आंचल में डाल दिया है ब्यौरों का अम्बार, बाह्य जीवन का शुष्क फोटोग्राफिक अंकन। इसका एक और खतरनाक परिणाम स्वस्थ रोमांटिक प्रवृत्ति को भी अस्वीकार करने में हुआ है, दूसरा खतरा मनुष्य की या सर्जक कलाकार की उस सहज प्रवृत्ति को विनष्ट करने में दिखाई दे रहा है—वह सहज प्रवृत्ति है राह के अन्वेषण की, केवल सहज मिली राह पर चलने की नहीं। दूसरे शब्दों में कुछ पुरानी शब्दावली का आश्रय ग्रहण करके कहा जाए तो असामान्य रूप में संवेदनशील और प्रतिभाशाली व्यक्ति की स्वस्थ स्वप्न देखने की आदर्शवादी प्रवृत्ति को ही चुनौती दी गई है, वस्तुतः कलाकार आज के जटिल जीवन में सामाजिक या सामूहिक जीवन के प्रयास को बाह्य वास्तविकता में कुछ दिशा प्रदान कर सकेगा, यह मानना कुछ अतिरिक्त भावुकतापूर्ण अपेक्षा हो सकती है। परन्तु कलाकार अपने विशिष्ट क्षेत्र में उस सूक्ष्म आभ्यंतरिक मूल्यपरक सांस्कृतिक बोध को निश्चय ही सचेष्ट रख सकता है, उदग्र और उन्नत रख सकता है। दूसरे शब्दों में उच्च जीवन की आभ्यंतरिक आकांक्षा को सतत जीवन्त रख कर व्यक्ति का उन्नयन कर ही सकता है और एक व्यक्ति के सशक्त रूप में उन्नत होने में सामाजिक जीवन को भी प्रभावान्वित किया जा सकता है। इतना ही कलाकार कर सकता है और यह अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य है—आज के मूल्य-भ्रष्टता के युग में। अज्ञेय का इस सम्बन्ध में विवेचन निस्संदिग्ध है, साहित्य की मूल्यपरकता पर उनकी

आस्था है और मूल्यपरकता का मूल वे मानवीय विवेक मानते हैं। अज्ञेय का कथन है— जिस साहित्य में रास्ते की पहचान का संकेत मिलेगा, वह साहित्य टिकेगा, जो नितांत प्रतिक्रियात्मक है, जिस में आज के भय, सत्रास, अजनबीपन, मतली आदि का भरपूर वार पाठक अथवा गृहीता पर पड़े, हो सकता है कि वैसा साहित्य आज की स्थिति के आस्वाद का आभास अधिक दे, पर रास्ते की चाह भी स्थिति का एक अन्यतम तत्व है, इस तरह इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती और जिस साहित्य में आज के आस्वाद के दूसरे सब रस हैं; लेकिन इस चाह और पहचान का आस्वाद नहीं मिलता, वह उस हद तक स्थिति का अधूरा ही संप्रेषण कर रहा है। आस्वाद का जो आभास है, उसमें थोड़ा धोखा भी, आभास भी है, तत्व की उतनी कमी है।

कलानुभव—एक सांस्कृतिक अनुभव

अज्ञेय की दृष्टि से कलानुभव अंतिम परिणति में एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक अनुभव का महत्वपूर्ण आयाम है। समाज के बुद्धिजीवी वर्ग में स्वस्थ, सक्रिय, दायित्ववान, ऊर्ध्व संचरण का आकांक्षी एक छोटा या बड़ा, कम या अधिक प्रभावशाली तबका रहता है। उसकी जीवन विषयक समग्र जीवन दृष्टि को संस्कृति का पर्याय माना जाता है, साहित्यानुभव उसके लिए इस समग्र जीवन दृष्टि का ही एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंश रहता है। इस अनुभव में सामाजिकता और परम्परागत मूल्यपरक जीवनानुभव का बहुत बड़ा भाग रहता है परन्तु वैयक्तिक स्तर पर दायित्ववान व्यक्ति के आत्मदान का अंश भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता (त्रिशंकु पृ० 28-29)। असल में साहित्यानुभव या कलानुभव का यह व्यापक बोध कतिपय न्द्वों को संक्रमित कर श्रेष्ठतम मानवीय कृतित्व के स्तर पर कला को स्थापित करता है। कला और नीति, वैयक्तिकता और सामाजिकता, परम्परा और नूतनता, शाश्वतता या स्थायित्व और आधुनिकता, चिरन्तनता और प्रासगिकता, गहराई और व्यापकता, सत्य और सौंदर्य, सत्य और शिव—इन सब द्वन्द्वों का अंतिम परिणति में एक श्रेष्ठतम अनुभव की प्रक्रिया में विलय हो जाता है।

साहित्यिक कृतित्व महज आत्माभिव्यक्ति नहीं है। वह एक सांस्कृतिक दायित्वपूर्ण कर्म है—इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि अज्ञेय के काव्यदर्शन में अवचेतन मन की अति यथार्थवादी मतली को स्थान नहीं है और न प्रकृतवाद के यांत्रिक अनुकरणवादी छिछले यथार्थ को ही। यद्यपि सृजन प्रक्रिया में अवचेतन की रासायनिक प्रक्रिया को अज्ञेय स्वीकार करते हैं और बदलते यथार्थ की व्यक्ति की चेतना पर पड़ने वाली मार को भी कम महत्वपूर्ण नहीं समझते। फिर भी इन दोनों का महत्व साहित्य कृति के मूल फल के लिए खाद, पानी, हवा, प्रकाश की भांति सहायक है—फल का वह पर्याय नहीं है। इस बिन्दु पर कला की स्वायतता और कला के महतम सांस्कृतिक प्रयोजन के बीच कोई द्वन्द्व नहीं रहता। काव्य रचना का—किसी भी कला सृष्टि का—अधिकार तभी आरम्भ होता है जब व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाए......यह मुझे सर्वथा स्वीकार्य है कि प्राचीन कवियों की महता

का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिए कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति की आनंद-साधना थी।[17]

यहीं पर अज्ञेय पर क्षणवादी होने के विकृत आरोप का भी खंडन होता है। वस्तुत: इसका अज्ञेय ने बार-बार स्पष्टीकरण दिया है परन्तु आलोचकों का एक कठमुल्ला वर्ग है जो अज्ञेय के प्रयोगवादी और क्षणवादी होने की बात को बार-बार प्रचारित करता रहता है। अज्ञेय के समस्त काव्य दर्शन के संदर्भ में ये आरोप या तो बचकाने हैं या षड्यंत्रपूर्ण प्रचार के परिचायक।

अच्छा साहित्य—महान साहित्य

अज्ञेय ने अच्छे साहित्य और महान साहित्य के संबंध में भी कुछ संकेत दिये हैं जो महत्वपूर्ण हैं। 'त्रिशंकु' में ही अज्ञेय लिखते हैं, 'इस प्रकार हम यह स्थापना कर सकते हैं कि यद्यपि अतृप्ति का अनुभव प्रत्येक आधुनिक लेखक में होना चाहिए, तथापि उसकी रचनाओं का महत्व आंकने के लिए यह देखना चाहिए कि अंततोगत्वा अपनी इस अनुभूति के प्रति उसकी स्थिति क्या है? यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएं जगायी हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनाएं महान साहित्य बन सकेंगी।[18] यह प्रत्यक्ष प्रतिरोध और युयुत्सा भावना का जगाने की जुझारू आकांक्षा बाद में जीवन के व्यापक आकलन के रूप में बदल गयी। लेकिन समाज जीवन के व्यापक संस्पर्श की बात बाद मे भी रही। 'जिस अनुभव का संप्रेषण वह करता है, वह कहां तक उसके अपने घटित से बड़ा है। कहां तक ऐसा है कि पूरे समाज के या मानव जाति के अनुभव के समक्ष और समकक्ष उसे रखा जा सके। यानी कहां तक वह अपने जीवन से बढ़कर समाज के जीवन में पैठ सका है, और उन अनुभवों का संप्रेषण कर सका है जो समाज के लिए भी महत्व रखते हैं। जो लेख क इस दूसरी कसौटी पर भी खरा उतरता है, उसे हम अच्छा लेखक मान सकते हैं। जितना ही व्यापक मूल्यवता का संस्पर्श वह पाठक को देता है—उसके द्वारा पाठक तक पहुँचता है—उतना ही वह अच्छा लेखक होता है।[19]

यहां अज्ञेय अच्छे लेखक की ही बात कर रहे हैं लेकिन यह अच्छे साहित्य का रास्ता ही महान साहित्य तक पहुंचा देता है। महत्व व्यापक सामाजिक जीवन में पैठ का है। महान लेखक की पहचान के बारे में अज्ञेय का मन्तव्य है: 'लेखक हमें जिस व्यापकतर सत्य से, सामाजिक अनुभव से सम्पृक्त करता है, अगर उसकी व्याप्ति, गहराई, सच्चाई की पहचान के साथ-साथ हमें पाठक की हैसियत से यह लगे कि यह सच, या कि यह अनुभव है, तो हमारा ही, हमारे जीवन का, हमारे बीच का है, पर यदि इस लेखक की प्रतिभा ने उसका संप्रेषण हम तक न किया होता, उसकी ऐसी सजीव पहचान हमें न करायी होती, तो वह

अलक्षित ही रह जाता, तो वह लेखक महान लेखक है।[20] सामाजिक जीवन की गहराई व्यापकता, सच्चाई की पहचान के साथ साधारण परन्तु अलक्षित जीवनानुभव की सजीव पहचान की यह शर्त कलाकार की मौलिक प्रतिभा पर बल देती है। आम आदमी के आम जीवन के ब्यौरे देते जाने वाले इधर के साहित्यकारों को इस बिन्दु पर अधिक चिंतन करना चाहिए। सामाजिक जीवन के व्यापक संस्पर्श तक ही अज्ञेय सीमित नहीं रहना चाहते—प्रतिभा के चमत्कार, जो साधारण के अलक्षित को सामने लाये, की कसौटी प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए एक स्थान पर वे लिखते हैं कि आम आदमी साहित्य में प्रविष्ट होने पर आम नहीं रहता, वह विशिष्ट बनता है। यह विशिष्टता प्रतिभा की छाप है।

कवि व्यक्तित्व

अज्ञेय के द्वारा विवेचित साहित्यानुभव या काव्यानुभव के विभिन्न आयामों को देखते हुए एक बात निश्चय ही कही जा सकती है कि उनकी राय में साहित्यकार का व्यक्तित्व व्युत्पन्नता और अभ्यास से या अन्य साधनों से अधिक धारदार बनाया जा सकता है, अपनी प्रदत्त क्षमता का वह अधिक कौशल से उपयोग कर सकता है परन्तु उस प्रदत्त क्षमता, जिसे प्रतिभा कहा जाता है, के अभाव में साहित्य का सृजन असंभव है। लेकिन यह सृजन प्रक्रिया भी स्वयं-चालित यंत्र नहीं है बल्कि उसे शिक्षा–दीक्षा, साधना, सचेत सामाजिक निरीक्षण से जाग्रत रखना पड़ता है। सृजन प्रक्रिया एक प्रकार से कलाकार के आत्मदान की सतत आहुति मांगती रहती। सृजन प्रक्रिया को वैज्ञानिक नियमावली के अंतर्गत लाने के आधुनिक प्रयास के प्रति वे उदासीन भी नहीं हैं परन्तु उनका विश्वास है कि उसका एक विलक्षण महत्वपूर्ण अंश अभी भी मनुष्य की बौद्धिक और तार्किक पकड़ के बहुत परे है। (देखिए, रचना और प्रक्रिया : आधुनिक साहित्य) अंततोगत्वा एक बात माननी पड़ती है कि साहित्य का खरा सोना तो मनुष्य के सचेत प्रयास से बाहर है। वह एक ऐसा दान है जिसे आंचल पसार कर लेने के लिए ही तैयार रहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में भगवान की कृपा निश्चित कब होगी, नहीं कहा जा सकता। परन्तु भक्त को चाहिए कि वह अपने को उस कृपा के सर्वथा योग्य बनाता रहे।

अभिव्यक्ति

यह कहा जा चुका है कि अज्ञेय अभिव्यक्ति को अत्यधिक महत्व देते हैं। असल में जो अनुभव कलानुभव के स्तर पर चढ़ना चाहता है, उसमें संप्रेषण की मांग अनिवार्य होती है। प्रयोग की समस्त प्रेरणा यही संप्रेषण की अनिवार्यता है। इस संप्रेषण के लिए स्वानुभव को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि दूसरे को वह संप्रेषित हो सके, साधारणीकरण का कार्य है।

साधारणीकरण और संप्रेषण काव्यानुभव के माध्यम पर विचार करने को बाध्य करते हैं। अज्ञेय ने काव्य के माध्यम का विशेष गहराई में चिंतन किया है। इस संदर्भ में उनकी

महत्वपूर्ण स्थापना है कि काव्य का माध्यम वाक्य नहीं, शब्द है। काव्य में शब्द पर बल देना नया नहीं है। अज्ञेय का मत है, 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है। ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं : इसी में युग-सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तर-दायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।[21]

शब्द के प्रति इतनी सजगता, इतनी समर्पित निष्ठा, इतना लगाव क्यों? यह नहीं कि भाषा को ही अस्वीकार करने वाले तथाकथित कवियों की हास्यास्पद चुनौती अज्ञेय के मन में कहीं है। वस्तुतः शब्द के प्रति विलक्षण दक्षता आरंभ से उनमें है। अगर गायक अपने माध्यम स्वर के प्रति या चित्रकार अपने रंग-रेखा के प्रति जरा भी लापरवाही बरतता है तो उसकी कुल कला ही लांछित होती है। दुर्भाग्य से कवियों में अपने माध्यम के प्रति उतना विवेक जाग्रत नहीं है तो इसलिए कि भाषा के काव्येतर प्रयोग काव्य को अशुद्ध भी करते हैं तो उतना ध्यान में नहीं आता जब तक पाठक विशेष चौकन्ना न रह जाय। काव्यभाषा को विचारों का वाहन बनाने वाली काव्य की अपकारक प्रवृत्ति या समस्त कला को ही साधन मानकर चलने वाली विचारधारा भी अज्ञेय को शायद विशेष सतर्क बनाती रही हो। क्योंकि काव्य भाषा का, कविता के माध्यम शब्द का विवेचन अज्ञेय ने अनेक संदर्भों में किया है। वैसे शब्दों का प्रचलन व्यावहारिक जीवन में, वैज्ञानिक चिंतन में, खबरें और जानकारी देने वाले सूचनात्मक साहित्य या वृत्तपत्र में सदैव होता रहता है और शब्द की शक्ति को, अर्थ को पर्याप्त क्षति पहुंचाता रहता है। भाषा एक सार्वजनिक वस्तु है और एक ओर यह काव्य की शक्ति है क्योंकि संप्रेषण का क्षेत्र बढ़ जाता है परन्तु दूसरी ओर इस वस्तु के भ्रष्ट होने के खतरे भी संख्यातीत हैं। इसी कारण से भी शब्द के प्रति विशेष सावधानी कवि-धर्म बन जाता है। फिर हिन्दी के विशिष्ट स्थान के कारण भाषा पर और भी अनेक प्रकार के आक्रमण जारी रहते ही हैं। हर सजग कलाकार को माध्यम के बारे में विशेष सतर्कता बरतनी पड़ती है। यह साध्य शुद्धि का आग्रह काव्य-भाषा के सम्बन्ध में विशेष ही महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। पंत और निराला शब्द के प्रति सजग थे परन्तु शब्द माध्यम का कई दिशाओं में विचार करने का श्रेय अज्ञेय को ही दिया जा सकता है।

शब्द के प्रयोग पर प्रयोगकर्ता की संस्कृति, अनुभव क्षेत्र की व्याप्ति एवं गहराई, उसकी संवेदनशीलता की क्षमता, उसकी कवित्व शक्ति, उसका कौशल एवं कला, उसका सौंदर्यबोध, सब कुछ की पहचान निर्भर है। इधर भाषा-वैज्ञानिक फैशन के रूप में अज्ञेय ने इसे नहीं स्वीकारा बल्कि एक आभ्यन्तरिक प्रतीति के रूप में इसे स्वीकारा है। इसीलिए कवि की शक्ति की माप भी उसकी भाषा को माना जा सकता है। अज्ञेय का आग्रह है, 'जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है (और जैसे जीव का हर कर्म उसके विस्फार को बदलता

है, वैसे ही शब्द का प्रत्येक उपयोग उसे नया संस्कार देता है), वह अर्थवान शब्द का साधक नहीं है, और मैं कहूँगा कि वह कवि नहीं है, न होगा।[22] शब्द पर अज्ञेय का इतना अधिक बल है कि वे लिखते हैं, 'जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो।'[23]

भाषा एक सामाजिक और वैयक्तिक धरोहर है। लेकिन कवि व्यक्तित्व का और इस धरोहर का सम्बन्ध निष्क्रिय नहीं है, न केवल दाता और प्राप्तिकर्ता का है। यह सम्बन्ध भी तनावपूर्ण है। जितना कवि बड़ा, उतना यह तनाव भी बड़ा। तनाव का अर्थ यह नहीं कि कवि भाषा के संचित से विरोध भाव से जुड़ा हुआ है। ये संबंध दोनों की ओर से सक्रिय सर्जन क्रिया के हैं जिसमें दोनों का महत्व समान है। धरोहर के रूप में मिली भाषा की सक्रियता उसके अर्थों की विभिन्न अनुगूंजें, पर्तें, स्तर, राशियां अपने आपमें समेट लिये होने में है तो कवि इस भाषा का ही प्रयोग कर अपनी ओर से कुछ नया, कुछ मौलिक जोड़ता जाता है— भाषा को एक नयी समृद्धि दे सकने में है। शब्द में नये अर्थ भर देने में कवि की सक्रियता निहित है। लेकिन भाषा को और भाषा के माध्यम से समस्त समाज को वही कवि कुछ अपनी ओर से दे सकता है जो भाषा की निहित शक्तियों से, उसकी समस्त सुदृढ़ परंपरा से भलीभांति परिचित है। इस परिचय का अर्थ है कवि न केवल अपनी साहित्यिक परपरा से गहन परिचय रखता है, वरन् व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन-व्यापार से भी जुड़ा हुआ है। इस जुड़े हुए होने के या लगाव के रूप असंख्य हो सकते हैं। यही कारण है कि शब्द अज्ञेय के लिए समस्त संस्कृति की कथा बताने वाला एक शक्तिमान अणु है। इस समस्त भाषिक संरचना में शब्द के निहित अर्थ से भी आगे जाकर कतिपय दृष्टियों से विचार करना पड़ता है, 'पर वाक्सिद्धि में केवल चीज और नाम का सम्बन्ध ही चिन्त्य नहीं होता, नामों के आपसी सम्बन्ध भी महत्व रखते हैं। शब्द से शब्द का सम्बन्ध शिथिल है या कसा हुआ, ध्वनि पर आग्रह करता है या रूप पर, मृदु है या धारदार, रंगीन या फीका—इन प्रश्नों का उत्तर पाकर ही हम कुछ निश्चय कर सकते हैं कि कवि कहां तक शब्द का धनी है......इतना ही नहीं, अमुक एक व्यक्ति शब्दों का जैसा प्रयोग करता है, वह भाषा के ध्वनि-समूह की अपेक्षा में कैसा जान पड़ता है, उसकी भाषा 'बोली हुई' भाषा है कि 'लिखी हुई' उसके प्रयोग निजी व्यक्तित्व-विशिष्ट हैं या कि रूढ़...... और अंतिम प्रश्न यह है कि शब्दों का स्वयं कवि से कैसा सन्बन्ध है? चीजों के नाम उसकी चेतना से निकलकर चीजों की ओर बहते हैं, या कि चीजों से निःसृत होकर उस तक पहुँचते हैं।[24]

छन्द, लय, ताल

नयी कविता में छंद मुक्ति का निराला का आग्रह रूढ़ हो गया। यहां तक कि छंद के प्रति एक अविवेकपूर्ण प्रतिक्रिया जागी और उसमें छंदों का स्वर के साथ, स्वर का कविता की रागात्मक तरलता के साथ जो सम्बन्ध है, उसको पूर्णतः भुला दिया गया। छंद और

लय को गीत-काव्य की धरोहर माना गया और उसका संस्कार आधुनिकता के विपरीत (?) माना गया। छंद के संबंध में अज्ञेय का चिन्तन भी महत्वपूर्ण है—'छंद : भाषा की ध्वनियों का संगठन या नियमन। छंद के द्वारा हम साधारण बोलचाल के गद्य की लय को नियमित करते हैं—यानी स्वर-मात्राओं के परस्पर संबंधों को सरलतर बना देते हैं : जो निहित रहता है उसे विहित कर देते हैं—या कर नहीं देते तो पहचाना जाने लायक कर देते हैं...... छंद स्वरों को स्पष्टतर करता है : भाषा की गति को धीमा करता है क्योंकि स्वरों की मात्रा बढ़ाता है : दीर्घतर स्वर अपनी पूरी अनुगूंज के साथ सामने आते हैं। उनकी सच्ची रंगत पहचानी जाती है । स्वरों की रंगत भावना की रंगत है : अतः छंद के द्वारा स्वर अर्थ की वृद्धि करते हैं। छंदमय उक्ति हमें शब्दार्थ-भर नहीं देती। रंजना-विशिष्ट भावार्थ देती है...... छंद शब्दों को मूर्त करता है, मुखर करता है, उनके ध्वन्याकार को आलोकित करता है...... छंद काव्य-भाषा की आंख है। भाषा अपने को केवल सुनकर भी काम चलाती है, काव्य-भाषा अपने को देख भी लेती है।[25]

छंद के प्रति यह रचनात्मक रूख भी महत्वपूर्ण है। आज बढ़ती अनुशासनहीनता के युग में कवियों को चाहिए कि फिर से छंद पर पुनर्विचार करें। छंद से भी अधिक महत्वपूर्ण तत्व काव्य में 'लय' है। इधर से मुक्त होने की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई, वह काव्य को लयहीन बनाने में परिणत हुई। आज तो भाषा को लेकर जो भ्रष्ट विचार फैल रहे हैं, उनमें भाषा केवल विचार को उगलने का साधन बनकर रह गयी। काव्य-भाषा और गद्य की भाषा में अंतर समाप्त होता दीख रहा है। गद्य भाषा और रचनात्मक भाषा का भी फर्क नजर अंदाज कर दिया गया है। अज्ञेय ने इस बढ़ती अविवेकपूर्ण प्रतिक्रिया को रोकने का प्रयास किया है—लय के संबंध में पुनर्विचार प्रस्तुत कर लय के प्रति एक विलक्षण आकर्षण अज्ञेय में प्रकृत्या ही है—एकाएक सोचता हूं कि कितनी सुंदर है दुनिया—क्योंकि कितनी लययुक्त गतियां दीखती हैं इसमें।[26] लेकिन काव्य में लय के प्रति आग्रह महज इस जन्मजात आकर्षण का परिणाम नहीं है। यह आग्रह काव्य विषयक चिन्तन से उद्भूत है। अज्ञेय एक प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, 'मेरे लिए यह मानना कठिन है कि नयी कविता में ताल या लय का महत्व नहीं रहा। कई कवि ऐसे अवश्य हैं जो उसका न केवल विचार नहीं करते बल्कि लय-ताल को पहचानते भी नहीं। मेरी समझ में वे उस हद तक घटिया कवि हैं। मैं तो यह भी कह सकता हूं कि तुक को भी कविता ने छोड़ा नहीं है, या कि यों कह लीजिए कि तुक से भी उसने मुक्ति नहीं पायी है। अन्त्यानुप्रास को छोड़ देना ही तुक से मुक्ति पा लेना नहीं है। निस्संदेह बहुत से नये कवि इस भ्रांति का शिकार हैं कि लय-ताल को छोड़ देना ही मुक्त हो जाना है। वास्तव में वैसा करना काव्य से मुक्त हो जाना है, काव्य को मुक्त करना नहीं। अच्छा गद्य भी लययुक्त नहीं होता। और ताल तो काव्य की पंक्ति का प्रमाण है। इतना ही दावा मैं सही मानता हूं कि हम लय और ताल की (और तुक की भी) परिभाषा बदल देना चाहते हैं और नयी कविता में जो अच्छी कविता है उसमें इस

नये लय-बोध और ताल का उपयोग हम पाते भी हैं। ऐसा नहीं है कि 'चारों खूंट बराबर' न रहने से कविता बेताल होती है ।[27]

काव्य की अभिव्यक्ति के पक्ष को लेकर कतिपय दृष्टियों और बिंदुओं का विवेचन अज्ञेय ने किया है। शिल्प, भाषा का अल्पाक्षरत्व या मितकथन, शब्द का वल्गराइजेशन, शब्द का प्रपद्यवादियों का विवेचन इत्यादि। उन सबका विवेचन विस्तार-भय से यहां नहीं हो सकता। अनुभूति और काल के संबंध का विवेचन भी महत्वपूर्ण है। वैसे लय क्या है, लय और ताल में क्या अंतर है एवं अन्य तात्विक प्रश्नों की चर्चा में अज्ञेय ने कोई रुचि नहीं दर्शायी, क्योंकि वे सौंदर्य शास्त्र के शास्त्रीय विवेचक नहीं हैं।

काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष का यह समस्त विवेचन एक सर्जक-चिन्तक के नाते किया गया है, किसी शास्त्रीय विश्लेषण में पारंगत आलोचक-चिन्तक के रूप में नहीं। परिणामतः इस विवेचन में आत्मानुभूति का बल है। बौद्धिक प्रखर क्षमता की प्रतीति भी है। परंतु उसका व्यावहारिक समीक्षात्मक पक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह उनसे अपेक्षा भी नहीं है परंतु लगता है यह पक्ष भी आता तो शायद हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा की एक बहुत ही बड़ी उपलब्धि वह होती।

काव्य का गृहीता : काव्य का प्रयोजन

अज्ञेय के लिए काव्य प्रक्रिया सर्जक कलाकार और उसके सृजनशील गृहीता के बीच का पारस्परिक गहन आत्मीय संवाद है। अब तक के विवेचन में यह बात पर्याप्त स्पष्ट हो चुकी है। गृहीता की उपस्थिति काव्यानुभूति पर, काव्याभिव्यक्ति पर और कवि व्यक्तित्व पर भी दूर तक प्रभाव डालती है। इस सर्जनशील सांस्कृतिक प्रक्रिया में सभी घटकों का अस्तित्व एक-दूसरे को उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार आसपास के दो शब्द।

अज्ञेय आत्माभिव्यक्ति के लिए या स्वान्तः सुखाय नहीं लिखते। गृहीता की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं। भले ही उनकी संख्या अत्यधिक सीमित हो। लेकिन यहां गृहीता को प्रभावित करने में कोई मसीहाई मुद्रा नहीं है, सुधारक या प्रचारक का बाना नहीं है। अज्ञेय ने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि उनका श्रोता या पाठक कवि से किसी प्रकार नीचे के स्तर पर नहीं है जो प्रबोधन के लिए लिखे साहित्य की आवश्यक शर्त होती है।

अज्ञेय फिर भी मानते हैं कि कविता एक और प्रकार से गृहीता को प्रभावित करती है। गृहीता को प्रभावित करने के लिए स्वयं कवि के व्यक्तित्व का भी संगठन अनिवार्य है : मैंने कविता का उपयोग करना नहीं चाहा, क्योंकि मैंने नहीं माना कि मेरे उपयोग करना चाहने से वह उपयोगी होती है। मैं मानता हूं कि वह तब उपयोगी होती है जब मैं स्वयं उपयोगी हूं। उसमें जीवन की पूर्णता तब है जब मैंने पूर्ण जीवन के प्रति अपने को समर्पित किया है। दुहाई देने से कविता नहीं निकलती। और अपने प्यार के बदले अपनी भूख का दुखड़ा रोने से कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता, केवल श्रोताओं के लिए वह दुखड़ा और भी कम

प्रीतिकर हो जाता है।[28] यह साधन शुचिता का आग्रह है और बहुत कठिन भी है क्योंकि एक शब्द के प्रयोग में और आचरण में अभिन्नता की मांग इसमें है। यह बात दूसरी है कि आचरण के मानदंडों और निकषों पर काफी मतभेद हो सकता है। लेकिन यह एक उच्च कोटि की नैतिकता का आग्रह है। बड़बोलेपन के युग में इसका महत्व अपरिसीम है। काव्य के गृहीता पर काव्यानुभव के प्रभाव की यह विवेचना समस्त काव्य-सृजन की प्रक्रिया को ही एक नैतिक अधिष्ठान पर स्थापित करती है।

इसी बात को अन्य स्तर पर अज्ञेय ने प्रकट किया है: जीवन से कौन प्रेम नहीं करता। और कवि विशेष रूप से जीवन-प्रेमी माना गया है। उसे न केवल स्वयं जीवन से प्रेम होना चाहिए वरन् दूसरों में भी जीवन के प्रति प्रेम का भाव जगा सकना और जगाना चाहिए।[29] कवि, कविता और पाठक पर उसके प्रभाव का अधिक स्पष्ट विवेचन अज्ञेय ने 'भवन्ती' में भी किया है।[30]

अज्ञेय के इस समस्त विवेचन में रस सिद्धान्त के अध्येता को एक बात खटक सकती है और वह यह कि अज्ञेय ने आस्वाद की अंतिम परिणति में जो गृहीता पर प्रभाव पड़ता है उसके स्वरूप का यत्र-तत्र संकेत अवश्य किया है परंतु निर्णायक रूप में यह नहीं कहा कि यह प्रभाव सुख-दुःख मय है या आनन्दमय है। वस्तुतः यह प्रश्न आज इसलिए महत्वपूर्ण नहीं रहा कि सुख-दुखमय प्रभाव और आनन्दमय प्रभाव को एक-दूसरे से अलग करना आज नितांत असंभव बन गया है। काव्य के प्रभाव का स्वरूप ही कुछ ऐसा सूक्ष्म और व्यामिश्र हो गया है कि उसके स्वरूप विवेचन में दुख और आनन्द जैसे शब्द नाकाफी सिद्ध हो रहे हैं। फिर भी यह निस्संदिग्ध है कि काव्य के सृजन से लेकर आस्वाद तक समस्त प्रक्रिया में कितना ही परिश्रम करना पड़े, वह एक समृद्ध समाज की सांस्कृतिक सम्पन्नता के लिए, जीवन को अर्थमय बनाकर उसे जीने लायक बनाने के लिए, व्यक्ति और समष्टि के बौद्धिक और भावनात्मक संतुलन के लिए नितांत प्रयोजनीय वस्तु है। फिर उसके तात्कालिक प्रभाव में कुछ हम अस्वस्थ भी हों, दुःखी भी हों, असंतुष्टि का अनुभव भी करते हों, उसका कुल प्रभाव आनंदमय न भी हो, अनुकूल अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि इस अनुकूल प्रभाव को कुछ लोग आनंद या सुख का नाम दें। ●

—7, शीकुतल, साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व), बम्बई।

संदर्भ

1. त्रिशंकु, पृ० 76
2. भवन्ती, पृ० 64-65
3. दूसरा सप्तक (द्वि. सं.) पृ० 9
4. तार सप्तक (तृतीय सं.), पृ० 270
5. द्वितीय सप्तक, पृ० 11
6. आत्मनेपद, पृ० 38
7. तारसप्तक (तृ. सं.) पृ० 271
8. त्रिशंकु (भूमिका)

9. फीलिंग एंड फार्म, पृ० 39
10. हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 136
11. तीसरा सप्तक, पृ० 18
12. हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 10
13. वही पृ० 16
14 त्रिशंकु, पृ० 28
15. अन्तरा, पृ० 23
16 आलवाल, पृ० 24
17. आत्मनेपद, पृ० 33-34
18. त्रिशंकु, पृ० 53
19. भवन्ती, पृ० 81
20. भवन्ती, पृ० 83
21. तारसप्तक, (तृ. सं.) पृ० 301
22. तारसप्तक, पृ० 9
23. तीसरा सप्तक, पृ० 17
24. भवन्ती, पृ० 56
25. भवन्ती पृ० 23
26. भवन्ती, पृ० 11
27. आलवाल, पृ० 59
28. आत्मनेपद, पृ० 29
29. आत्मनेपद, पृ० 43
30. भवन्ती, पृ० 50, 81, 83



ऐसा भी होता है

—डॉ० उपेन्द्र रैणा

कभी-कभी ऐसा भी होता है
मैं अपनी बन्द मुट्टियों से बहुत दूर निकल आता हूं
अपने लम्बे नाखूनों से लिख देता हूं
—जीवित हूं
—अब सुरक्षित हूं
अपने जिस्म को
एक ऐसे चेहरे पर चस्पां कर देता हूं
जो सिर्फ रात के अन्धेरे में ही चमकता रहता है
कभी-कभी ऐसा भी होता है
हम सभी
अर्थात्
तुम
अर्थात्
मैं
उस अंधेरे में एक यात्रा काटने के बाद
जब बाहर निकल आता हूं
एक जानवर की शक्ल में मुझे पहचाना जाता है
यह पहले भी तय हुआ है
जानवर अपराध करता है
इसलिए जंगल में ही
उस अपराधी का रहना उचित है
कभी-कभी ऐसा भी होता है
जंगल की सीमा से बाहर जो आता है
सभी अपराधों से मुक्त होता है
आदमियों के नाम के साथ नत्थी करके
उसे बाइज्जत रिहा किया जाता है।

———

—डलैहसनयार, हब्बा-कदल,
श्रीनगर-१९०००१ (कश्मीर)

लेख

हिन्दी की साहित्येतर सामग्री के कश्मीरी में अनुवाद की समस्याएं

—डा० रतन लाल शान्त

चेतना : ज़रूरत की चेतना

भाषाएं, सामान्य शब्दावली, नाम पद्धति (nomenclature) संवेदक अर्थ बाहुल्य और सटीक प्रयोग क्षमता की दृष्टि से समृद्ध होती हैं। फिर भी उनकी परस्पर निर्भरता बढ़ती जाती है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और विज्ञान के केन्द्र विभिन्न भाषा - केन्द्र होते हैं, चिंतन, खोज और व्याख्या-पुनरीक्षण (review) विभिन्न भाषाओं में होता है इसलिए लेन देन की प्रक्रिया लगातार चलती है। इस लिहाज़ से कश्मीरी जैसी भाषा की हालत दयनीय है। इसमें मौलिक साहित्येतर चिंतन (और साहित्यिक चिंतन भी) नहीं के बराबर होता है इसलिए यह भाषा देन क्या दे सकती है अभी तो लेने के लिए न तय्यार है और न ही उस ज़रूरत के प्रति पूरी तरह सचेत। अभी इस भाषा में, दूसरी बेहतर स्थिति वाली भाषाओं से अनुवाद करने का काम गंभीरता से शुरू नहीं हुआ है। साहित्य के अनुवाद हुए हैं पर इतर क्षेत्र सूखा पड़ा है। लगता है कि यह भाषा ऐसे अनुवाद की ज़रूरत से दो-चार ही नहीं हुई है। ज़रूरत तब पैदा होती जब इस भाषा को शिक्षा संस्थाओं में ले जाया जाता। पहले पाठ्यपुस्तकों की ज़रूरत होती है, जिससे विकासशील मन को विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों में निजी भाषा में पढ़ने सोचने की आदत पड़ती है, और अतिरिक्त पठन की मांग जन्म लेती है। मौलिक चिंतन तो बाद की बात है। पाठक, पहले सिद्धांत को, मन के शीशे में उतार लेता है और मातृभाषा में तथ्य का अनुसंधान और पुनर्व्याख्या करने की स्थिति में हो जाता है। कश्मीरी के संदर्भ में हालत यह है कि अभी यहां मातृभाषा में ज्ञान-विज्ञान पाने की चेतना ने भी जन्म नहीं लिया है इसलिए इस दिशा में कोई काम नहीं हुआ है। अनुवाद की आवश्यकता हमें प्रेरित ज़रूर करेगी, पहले इस आवश्यकता की चेतना तो हो।

यह दशा आशाजनक नहीं है पर स्थिति यही रहेगी, ऐसा भी नहीं। कश्मीरी लाखों लोगों की ज़बान है और ये लोग इस माध्यम से पढ़ना, लिखना और सोचना चाहेंगे। तब अनूदित ग्रंथों की ज़रूरत होगी। इस विकासशील प्रदेश की भाषा चेतना लौटेगी—यह ज़रूरत की चेतना होगी।

समस्याओं का अंदाज़ा

हम हिन्दी से अनुवाद की समस्याओं से अभी दोचार नहीं हैं क्योंकि कश्मीरी में 'इतर' साहित्य के जितने भी अनुवाद हुए हैं (भले ही उन्हें अनुवाद न कहा गया हो) उनमें से हिन्दी से नहीं ही हुए हैं। हिन्दी के आधार पर शब्दावली भले ही गढ़ी गई हो। पर चूंकि खोज और अध्ययन का यह क्षेत्र अछूता पड़ा है इसलिए इसमें समस्याओं का अदांज़ा हो सकता है। विज्ञान के सम्बन्ध में बात वाक्यरचना से ज्यादा शब्द निर्माण और शब्दार्थ सम्बन्ध पर आती है इसलिए हम प्रस्तुत समस्या को इन संदर्भों में देख सकते हैं। इस प्रकार के कुछ कार्यों के साथ मेरा सम्बन्ध रहा है इसलिए अपने अनुभव भी मेरी बहस की बुनियाद हो सकते हैं।

अंग्रेज़ी से विज्ञान और हिन्दी से मानविकी

सवाल पैदा होता है कि जब कश्मीरी के लिए अंग्रेज़ी उर्दू या हिंदी एक जैसी दूरी पर खड़ी हैं तो तकनीकी अनुवाद सीधे अंग्रेज़ी से ही न करके ऐसी भाषाओं से क्यों करें जो खुद अंग्रेज़ी से उधार लेकर खाती हैं। इस विषय के पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए जाते हैं। हिन्दी समेत आधुनिक भारतीय भाषाएं सबसे ज्यादा अंग्रेजी के सम्पर्क में आयीं। और अंग्रेज़ी, साहित्य तथा इतर क्षेत्रों में समृद्ध भी है तथा सुलभ और सुगम भी। हिन्दी इस समय मौलिक वैज्ञानिक चिंतन का स्वतंत्र माध्यम बन कर उभरी नहीं है कि इसे अनुकरणीय माना जाय। हिन्दी से अनुवाद करना, अनुवाद का अनुवाद करने के समान होगा, जो मूल से दूरतर पड़ेगा। इस तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि भारत पश्चिमायिभूत दुनिया में अपनी अलग अस्मिता की खोज में है। जिस प्रकार यूरोपी भाषाएं तकरीबन एक ही (wave length) वेव लेंथ पर दोलायित होती हैं उसी तरह भारतीय भाषाओं के तकनीकी चिंतन का एक समीकरण दिखाई पड़ने लगा है। कश्मीरी भाषा, साहित्य और साहित्येतर, दोनों लिहाज़ से अभी इस राष्ट्रीय समीकरण (national equation) में भी ठीक स्थान पर नहीं है। इतर क्षेत्र में वह इनके पहलू में आ बैठने की चेष्टा कर सकती है। भारतीय भाषाओं में प्राकृतिक विज्ञान या प्रौद्योगिकी (technology) से संबंधित संतोषप्रद मौलिक काम नहीं हो रहा है पर सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, राजनीति, इतिहास आदि में भारतीय चिंतन परंपरा की खोज का परिप्रेक्ष्य मौलिक चिंतन के लिए माहौल पैदा कर रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में सीताराम जायसवाल, इतिहास और पुरातत्व में डा० सूर्यकांत, हीरा धी० सांकलिया, जयचद्र विद्यालंकार, नृत्तत्व और समाज शास्त्र में राजाराम शास्त्री, दर्शन में भीखनलाल आत्रेय, बलदेव उपाध्याय, गणित में डा० गोरख प्रसाद, वाणिज्य में अमर नारायण अग्रवाल आदि के काम ने इन क्षेत्रों में मौलिक चिंतन के लिए पूर्व-पीठिका तैयार की है। विज्ञान देशकाल से असम्पृक्त होता है पर मानविकी (humanities) देशकाल की सांस्कृतिक पहचान से जुड़ी होती है इसलिए हिन्दी तथा कश्मीरी प्राकृतिक विज्ञान न सही, सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में बृहतर

भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक दूसरे से फायदा उठा सकती हैं। हिन्दी गणराज्य की एक शासकीय भाषा होने के अलावा दर्जन भर से अधिक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम है। इसमें सैकड़ों ग्रंथ अनूदित हो रहे हैं और पारिभाषिक शब्दावली को काफी प्रचलन प्राप्त हुआ है। पाठ्य पुस्तकों तथा शोध ग्रंथों में उसका लगातार इस्तेमाल हो रहा है। प्रचलन (currency) से शब्द निखरते हैं। शिक्षामंत्रालय ने जिस पारिभाषिक कोश का प्रकाशन दस वर्ष के काम के बाद 1962 में किया, उससे जुड़े करीब 400 विद्वान ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते थे। (इन में डा० एस० कोठारी, प्रो० मुजीब, सुनीति कुमार चटर्जी, जाफर अली खां 'असर', डा० सिद्धेश्वर वर्मा, अनन्त शयनम आयंगर, डा० जेड० यू० अहमद, डा० तारा चन्द विशेष उल्लेखनीय हैं) विविध भाषा केन्द्रों से विशेषज्ञ लेने का मकसद था हिन्दी को समृद्ध करना और साथ ही दूसरी भारतीय भाषाओं के लिए या तो शब्द सीधे मुहय्या करना या शब्दावली निर्माण का रास्ता दिखाना। कश्मीरी हिन्दी के इस अनुभव से फायदा उठाते हुए ज्यादा सहजता का अनुभव करेगी।

उर्दू आधार के बावजूद हिन्दी मिश्रण

यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि कश्मीरी शब्दावली और शब्द निर्माण की दृष्टि से फारसी और उर्दू से काफी प्रभावित है। हिन्दी से अनुवाद करते समय एक स्पष्ट भाषिक अलगाव नज़र आता है जो मुश्किल पैदा करता है। फारसी तथा उर्दू का आधार कश्मीरी में पारिभाषिक शब्दावली के गढ़ने में सहायक होता है। उर्दू के बहुत देर से शिक्षा का माध्यम होने के कारण उर्दू-आधारित शब्द ज्यादा आसानी से प्रचलित होता है। उर्दू अन्य संस्कृताधारित भारतीय भाषाओं से ज़रा अलग पड़ती है। सांस्कृतिक कारणों से इसकी प्रवृत्ति फ़ारसी अरबी से शब्द या धातुएं लेने की है। कश्मीरी में उर्दू-आधारित शब्दावली इस प्रवृत्ति का अपवाद बन सकती है क्योंकि यह भाषा संस्कृत की ठोस बुनियाद पर खड़ी है और हिन्दी की साहित्य परम्परा के बहुत समांतर (parallels) इसमें मौजूद हैं। मसलन उर्दू भक्ति साहित्य देश व्यापी भक्ति साहित्यधारा से अलग विकसित होता रहा जबकि कश्मीरी में फारसी परम्परा के अलावा भक्ति और नीति साहित्य भी रचा गया। इससे कश्मीरी भाषा में संस्कृत और फारसी दोनों से शब्द ग्रहण करने की क्षमता आ गई। हिन्दी के 'सुखवाद' के लिए कश्मीरी 'सोखवाद' चल सकता है जो सर्वथा संस्कृत है। समलिंगी के लिए 'सम जिनस्य' जिस में दोनों भाषाओं का मिश्रण है। ईगोटिज़म (egotism) के लिए 'अहंकार' और (neo-intution) के लिए 'नवीन इल्हाम'।

शब्द निर्माण में हिन्दी से मदद

इतर साहित्य के अनुवाद में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या से पहले सामना होता है फिर उसकी प्रयोग विधि से। हम जानते हैं कि हिन्दी के कई तत्सम या तद्भव शब्द कश्मीरी में पारिभाषिक शब्दों की प्रतिष्ठा पा चुके हैं। इन से संबंधित विषयों के अनुवाद में आसानी पैदा हो सकती है। जैसे समालोचना दर्शन और मनोविज्ञान में ये शब्द 'अकायुत' (अकायब) आंकअर्य (सकअर्यं) नकअर्यं (नकारी), प्रावुत (प्राप्ति), अनमान (अनुमान) मनहार

(अनुहार) पग्रर्यज़ान (cognition परिज्ञान) व्वलसन (उल्लसन) (motivating) स्यघुर (स्तर) व्वथवव (उद्भव) इकग्रय (इकाई)। कई ग्रन्य शब्द जो ग्रंग्रेज़ी की पारिभाषिक शब्दावली से लिए गए हैं, हिन्दी से होकर ही ग्राए हैं। जैसे चग्रखर (cycle) वासना (libido) ग्रादर्श (ideal) पश्यमालय (zoophilism) पश्य प्राह (zoophobia) त्रांस (trauma) प्राकार (pattern) ग्रादि। कई बार हिन्दी-ग्राधारित शब्द कश्मीरी के पारिभाषिक शब्द की ग्रलग-ग्रलग ग्रर्थ छाया को उभारने में सहायक होता है। मनोविज्ञान में hate के लिए 'नफरत' है, पर aversion के लिइ 'ग्रनग्र' (घृणा) ग्रौर इसी तरह fend के लिए 'रश' ईर्ष्या मसलन blood fend—खून रश—सही ग्रर्थछाया को उजागर करने में सहायक होता है। ग्रंग्रेज़ी के form तथा appearance के लिए कश्मीरी 'हयथ' तथा शकल स्वीकृत हुग्रा है, पर morph के लिए 'रूप' इस भाषा को विस्तार देगा। इस तरह aroma के लिए मुशक, flavour के लिए 'मज़', fragrance के लिए 'ख्वश्बू' odour के लिए 'व्वय' लेकिन taste के लिए 'स्वाद' या 'साद' हो सकता है। इस प्रकार के शब्दों का निश्चय ग्रंतिम नहीं भी हो पर इस दिशा में एक रास्ता दिखा सकता है।

कोश

हिन्दी से इतर साहित्य का ग्रनुवाद करने के लिए क्या सृजनात्मक साहित्य ग्रनूदित करने के लिए भी कोश नहीं। हिन्दी निदेशालय ने कश्मीर विश्वविद्यालय के तत्वावधान में त्रिभाषा कोश की एक परियोजना शुरू करवाई थी, वह ग्रधूरी छोड़ दी गई।

कश्मीरी में गद्य की कमी

ग्रन्त में ग्राहक-भाषा-कश्मीरी की ग्राह्यता पर दो बातें। वैज्ञानिक साहित्य में बहुत हद तक व्यक्तिनिष्ठ शब्द चयन ग्रथवा शैली से बचा जाता है। बात सटीक शब्दों में कही जाती है। इसके लिए भाषा में स्पष्टता, सरलता ग्रौर ग्रसंदिग्धता जरूरी होती है। सूत्र कभी पद्य में भी हुग्रा करते थे। पर ग्राज गद्य में ही होते हैं। परंतु यह गद्य साहित्यिक नहीं। (यों तो साहित्यिक गद्य में भी वैज्ञानिक सटीकता (Precision) मानी जाती है।) इसमें निर्व्यैक्तिक बात कहने की ठंडी ग्रसंसक्ति (Dis-involvement) होनी चाहिए। हिंदी में ऐसा मुहावरा ग्रभी पूरी तरह बन नहीं पाया है। पर इस मुहावरे को प्राप्त करने के लिए हिंदी को जिस प्रजनन पीड़ा से गुजरना पड़ रहा है, कश्मीरी उस से गुजर कर ही सही स्थिति तक पहुंच सकती है। इस कारण भी हिंदी से ग्रनुवाद करना लाभकारी होता, वरना कश्मीरी में कहानी, नाटक का गद्य ग्रभी परिनिष्ठित नहीं हो पाया है। ग्रालोचना का ग्रौर भी नहीं। इसमें ग्रंग्रेजी के तकनीकी साहित्य से सीधे ग्रनुवाद करने पर ग्रंग्रेजी के गद्य के मुहावरे को व्याख्यायित या टोनडाउन (Tone down) करना पड़ सकता है जो समस्या सुलझाने के बदले ग्रौर उलझाएगा। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या हल हो तो हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य का कश्मीरी ग्रनुवाद ग्रपेक्षाकृत ज्यादा ग्रासान ग्रौर इसलिए उपादेय होगा।



कश्मीरी कविता

कथाकार

—अर्जुन देव "मजबूर"

मूरतों में पुनः सरसराहट हुई
काले सियाह मार्गों पर विकृतियां रूप बदलने लगीं
एक अनन्त शोर, पर दिखाई कुछ नहीं देता
"वितस्ता" नीलकुण्ड में वापस आ गई
और पुनः कुण्डली मार कर नागिन की भांति बैठ गई
स्वप्न में मदमाती मस्तियां उठ खडी हुईं
भूर्ज पत्तों वाली छतों से फूलों की छटा भाग चली

●

पाताल में समुद्रों का मिलन हुआ
ज्वालामुखी पर्वतों पर शोले घटने लगे
धुएं के ढेरों ने आकाश को गले लगाया
धुन्धों पर इन्द्र–धनुष की छाया आ पड़ी
शून्य ने आवाज़ों को पुनः वापस किया
जरबफती झीलों का गला घोंट दिया गया
सोये हुए वन नृत्य करते हुए खड़े हो गए
और 'वुल्लर' सर का जल मस्त होकर छलकने लगा

●

एक कथाकार पर्वत के दामन से सटा
जैसे पीरपंचाल के मस्तक पर "कौंसर नाग"
"गंगबल" झील का भाई सा लग रहा हो
'लिद्दर' नदी के किनारे जन्मा आदि मानव

●

एक नाग अप्सरा 'सतीसर' में उतर पड़ी
उसने कमल पत्तों से ओस झटक दी

एक छाल ली नृत्य में घूम कर
"हर मुख" पर्वत के मोतियों जैसे भाग की ओर भाग चलो
समुद्र से मिले सर से स्वर्ण कलश ऊपर आ गए
और हरे घास के लम्बे मैदानों ने जी भर कर अमृत पिया
उषा ने पर्वत शिखरों पर दीपमाला की
धरती के सभी देवता एक जुट हुए
उन्होंने घास के तिनकों पर धीरे धीरे हाथ फेरा
और सिन्दूरी शिलाओं को चूमने लगे
और केसर के पुष्पों की रंगोलियां चारों ओर सजाईं

●

मानवीय सीधापन पर्वत पार हुआ
"पिशाच" और "नागों" का मिलन हुआ
शान्ति-दीप उत्तर की ओर चल पड़े
शिव और शान्ति का विचित्र मेल हुआ
'हमदान' की खुशबू गांव गांव फैल गई
'सन्तूर' ने एकता का पाठ पढ़ाया
ऋषि-वाटिका गाने लगी— और
भूर्ज पत्तों पर अमर साहित्य लिखा गया।

●

यह कहानी सहस्रों वर्ष पुरानी है
यह जन्म जन्म की कथा है इसका कोई अन्त नहीं
पर लगता है जैसे अभी अभी कोई कहकर गया हो
और पद्म-सर में छलांग लगा दी हो
कानों में आवाज आई, गुनगुनाहट हुई
"समय" का आज और कल कहां ?
यादों को एकत्र कर सम्भाल लो
और इन्हें संघमी-सोच (conciousness) के अतलस पहनाओ
और एक नये संसार की उत्पत्ति करो



—जैनापुरा, बिजबिहाड़
(कश्मीर)

संस्मरणात्मक लेख

यशपाल : एक विवादास्पद व्यक्तित्व

—विष्णु प्रभाकर

यशपाल का व्यक्तित्व कितना ही विवादास्पद रहा हो इसमें सन्देह नहीं कि एक देशभक्त और क्रांतिकारी और एक सशक्त कृतिकार के रूप में देश उन्हें कभी नहीं भुला सकेगा और उनके मित्र उन्हें नहीं भूल सकेंगे—एक वाक्पटु व्यक्ति के रूप में जो एक साथ विनोदप्रिय और चुटीला रहा है।

एक दिन वह किसी कार्य से सस्ता साहित्य मण्डल आये थे। मैं उन दिनों वहीं बैठता था। पूछ लिया, 'कहां से आ रहे हैं आप ?'

तुरन्त बोले, 'बम्बई गया था। अमुक निदेशक ने बुलाया था।'

'कोई चित्रपट-कथा लिख रहे हैं क्या ?'

'लिख तो नहीं रहा पर वह चाहते थे कि लिखूं कहने लगे हमें यथार्थ जीवन को लेकर पटकथा तैयार करनी चाहिए। अब देखिये आज कल 'भूदान' की बड़ी चर्चा है। क्या आप भूदान को लेकर एक कहानी तैयार कर सकते हैं। मैंने उत्तर दिया, 'पर मैं तो भूदान में विश्वास ही नहीं करता।' वह बोले, 'विश्वास तो मैं भी नहीं करता।' मैंने कहा, 'जब आप विश्वास ही नहीं करते तो बनायेंगे क्यों ?' बोले, 'समय का रूझान भी देखना होता है भाई। खैर कोई और विषय बताइये। जल्दी नहीं है। सोच लीजिये। अभी तो मुझे भी शूटिंग पर जाना है। आप भी चलिये न। एक आइडिया हो जाएगा कि हम क्या चाहते हैं।

'और आप सैट पर गये ?'

'जी हां, जाना पड़ा। वह स्वयं एक सुन्दरी अभिनेत्री के साथ अभिनय कर रहे थे। दृश्य चल रहा था कि उनके पिता जी ने अतिनाटकीय ढंग से वहां प्रवेश किया। कई क्षण दूर खड़े देखते रहे। फिर अचानक उसी नाटकीय ढंग से सैट पर आये और बोले, 'मेरे बेटे ! तुम्हारा अभिनय ठीक नहीं है।'..

बेटे ने पिता की ओर देखा, उसी दृढ़ता से कहा, 'नहीं पापा ! मैं ठीक हूं ।'

पिता ने कहा, 'नहीं, तुम गलत हो ।'

पुत्र ने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं ठीक हूं ।'

पिता गरजे, 'नहीं...तुम गलत हो' और यह कहते हुए वह आगे बढ़े और तड़ से एक तमाचा पुत्र के मुंह पर जड़ दिया और भुनभुनाते हुए जैसे आये थे वैसे ही चले गये। वातावरण स्तब्ध हो रहा। पुत्र गाल पर हाथ रखे जैसे प्रस्तर-प्रतिमा बन गये हों। अभिनेत्री मूक, हम सब अवाक् कि कुछ क्षण बाद पिता जी ने फिर उसी नाटकीय ढंग से वहां प्रवेश किया और सीधे सैट पर पहुंचे, बोले, 'मेरे बेटे ! तुम ठीक थे, मैं गलती पर था ।'

और दोनों बाप-बेटे ललक कर ऐसे गले मिले जैसे युग-युग के बिछड़े हों । सभी दर्शक खड़े होकर तालियां पीटने लगे । सो प्रभाकर जी ! यह नाटक के भीतर का नाटक शायद मुझ पर रोब डालने के लिये था । किसी तरह जान छुड़ा कर भागा । अब नहीं जाऊंगा ।'

कहते-कहते उनकी चिरपरिचित शरारत भरी चुलबुली मुस्कान गहरा उठी । यही मुस्कान उनकी पहचान थी । प्रथम भेंट में ही यह मुस्कान मन पर अंकित होकर रह गई। राजनैतिक विचारधारा की दृष्टि से हम दो ध्रुवों पर थे । मैं गांधी-नीति के बहुत पास रहा हूं और वह थे प्रसिद्ध क्रांतिकारी 'गान्धीवाद की शव-परीक्षा' के लेखक । लेकिन जिस प्रकार क्रांतिकारियों की उत्कट देशभक्ति और प्राण बिसर्जन की सहज भावना ने मेरे मन में उनके प्रति एक निष्कपट श्रद्धा को जन्म दिया था उसी प्रकार उनके मन में भी गांधी-नीति के उपासकों के प्रति एक गहरी समझ थी ।

दिल्ली दूरदर्शन पर मुझे उनसे साक्षात्कार करना था । मैंने ऐसे शुरू करना चाहा, हमें बहुत प्रसन्नता हो रही है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार-विचारक श्री यशपाल हमारे स्टुडियो में उपस्थित हैं...कि तुरन्त तत्कालीन कार्यक्रम अधिकारी ने सुझाव दिया, विष्णु जी ! क्या औपचारिक होने की बहुत जरूरत है । सीधे विषय पर आ जाइये न ।

यशपाल जी बोले, विष्णु जी गांधी के भक्त हैं । शिष्टाचार की औपचारिकता को कैसे छोड़ सकते हैं ?

तभी की एक और घटना याद आ रही है । उन दिनों उनकी आंख का आपरेशन हुआ था, फिर भी वह टी-हाउस में आना नहीं भूले थे । लखनऊ की तरह दिल्ली में भी चाय और कहवाघर साहित्यिकों की मक्का रहे हैं । शायद वहीं से हम मन्मथ जी के घर गये थे । कुछ और मित्र भी थे । तब उनका उपन्यास मेरी तेरी उसकी बात 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था । उसी प्रसंग में वे बोले, 'मूल उपन्यास को इतना संक्षिप्त कर देता हूं कि वह आधा भी नहीं रहता । सम्पादक उसे और भी संक्षिप्त कर देते हैं, तब छापते हैं ।'

मैंने आश्चर्य से उनकी ओर देखा, कहा, 'आप सह लेते हैं ?'

बोले, 'और कर क्या सकता हूं ?'

मैंने कहा, 'तब तो आप गांधी भक्तों से कहीं अधिक अहिंसक हैं। मैं तो शायद यह सब न सह पाऊं।'

साहित्यकार के नाते बहुत बार मिला हूं उनसे। वस्तुतः साहित्य ही हम दोनों को जोड़ने वाली कड़ी थी। घनिष्ठ मैं उनसे कभी नहीं हो पाया। पर जब भी हम मिले उन्होंने बहुत से तथाकथित बुद्धिजीवियों की तरह हमारे बीच में अजनबीपन को कभी नहीं आने दिया। एक दिन इलाहाबाद में अश्क जी के पास बैठा था कि यशपाल आ गये। कुछ क्षण बाद अश्क उठे, बोले, 'मैं अभी आया। तब तक आप दोनों कथाकार बातें कीजिये।'

यशपाल हसे ! फिर मेरे सामने बैठ गये। बोले, 'आइये बातें करें। आज कल कैसी कहानी लिखी जा रही है ? या बताइये कौन सा नया आंदोलन चल रहा है या कौन किस की चिन्दी बिखेर रहा है ?"

और फिर तो देर तक कहकहे गूंजते रहे।

प्रथम बार उनसे मेरी भेंट १९३९ के प्रारम्भ में दिल्ली में हुई। जैनेन्द्र जी ने साहित्य-परिषद का आयोजन किया था। बहुत से अंग्रेज और समवयस्क साहित्यिक वहां आये थे—सर्वश्री अज्ञेय, अश्क, यशपाल, आनन्द कोसल्यायन, सियाराम शरण गुप्त, वीरेन्द्र कुमार जैन, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी आदि आज के दिग्गजों से वहीं भेंट हुई थी। वहीं जैनेन्द्र जी, अश्क और मैं द्वार के पास खड़े थे कि तभी कोट-पेंट पहने एक सज्जन वहां आये। जैनेन्द्र जी एकदम गरमजोशी से बोल उठे, 'अच्छा आप आ गये......'

मैंने दृष्टि उठा कर उनकी ओर देखा। वह मुस्करा रहे थे। वह शरारत भरी चुलबुली मुस्कान थी। कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है उसका, पर मेरे लिये वही उनकी शाश्वत पहचान हो गई। यह यशपाल हैं यह जानकर मैं और भी प्रसन्न हुआ। बहुत से क्रांतिकारियों से मिला उन दिनों मैं, पर मुस्कान दो की ही मन पर अंकित हो सकी। यशपाल के ठीक विपरीत थे बटुकेश्वर दत्त...सौम्य, शान्त और कवि हृदय। मैं उनसे कनखल में मिला था। हम दोनों ही विश्ववाणी के लेखक थे। मिलते ही वे नाजुक युवति की तरह मुस्कराये और बोले, 'आप विश्ववाणी में लिखते हैं न ?'

जितनी देर बातें हुई मैं उस सारे समय उनकी मुखभंगी को देखता रहा, सोचता रहा कि मैं किसी क्रांतिकारी से बातें कर रहा हूं या कवि से, लेकिन जैसे ही वे अपने पूर्व जीवन की गतिविधियों की चर्चा करने लगे तो उनके स्वर में अपूर्व दृढ़ता और गर्व भर उठा था।

मैं तब तक सरकारी नौकरी में था। उसके कुछ नितांत व्यक्तिगत कारण थे, अन्यथा हमारा परिवार शुद्ध कांग्रेसी था। स्वयं मैं देशभक्तिपूर्ण रचनाएं लिखता था। यशपाल

के 'विप्लव' में भी मैंने लिखा था। वह लेखन तो गुप्तचर विभाग की दृष्टि में नहीं आया पर यशपाल के नाम मेरा एक पत्र वे अवश्य देख सके। मेरे पीछे पुलिस पहले ही थी इस पत्र से उन्हें विश्वास हो गया कि मेरी क्रांतिकारियों से सांठ-गांठ रही है। इसलिये अचानक जब मैंने ६ जून, १९४० को अपना नाम पंजाब के उन विद्रोहियों की सूची में पाया जिनकी उस दिन तलाशी हुई तो मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। सवेरे तीन बजे ही १८ पुलिस अधिकारियों ने मुझे हिरासत में ले लिया था। तलाशी सी तलाशी थी। दीवारों के लेवड़े और कुर्सियों की गद्दियां उखाड़ डालीं उन्होंने। जलाने की लकड़ियां, चूरन और मंजन कुछ भी न बच सका परीक्षण से। मंजन में पोटाश हो सकता है और वह क्रांतिकारियों के बहुमान की वस्तु है। घर के हर कोने में, रसोई में ही नहीं शौचालय में भी गये वे लोग।

मेरे पुस्तकालय में सभी पुस्तकें ढूंढीं। हर पत्र को पढ़ा। खोज की इस प्रक्रिया में अचानक इंस्पैक्टर उछल पड़े, 'मिल गया।'

'क्या मिल गया।' मैंने पूछा।

इस बात का प्रमाण कि यशपाल यहां आते हैं। यह देखो उनका पैड।

उस तनावपूर्ण वातावरण में भी मुझे हसी आ गई, 'बोला, जनाब! यह पैड यशपाल जैन, बी० ए०, एल० एल० बी० का है। क्रांतिकारी यशपाल का नहीं।' जितनी तीव्रता से सफलता उनके चेहरे पर दीप्त हो उठी थी उतनी ही तेजी से वह तिरोहित हो गई।

वैसे मुझे तलाशी की पूर्व सूचना मिल गई थी और विप्लव की फाइल तथा अन्य सभी आपत्तिजनक सामग्री मैं हटा चुका था। लेकिन उस दिन से यशपाल मेरे चिरस्मरणीय बन गये। मिलने पर जब मैंने यह घटना उन्हें सुनाई तो वे बहुत हंसे, बोले, 'तुम खुशकिस्मत हो। नहीं तो कई मित्रों को इसी कारण जेल की हवा खानी पड़ी है।

मृत्यु से कुछ समय पूर्व वह दिल्ली आये थे। वे मुझ से मिलना चाहते थे पर मैं तब कहीं बाहर था। मात्र शिष्टाचार की बात तो हो नहीं सकती पर क्या हो सकती है यह जानने का अब कोई मार्ग शेष नहीं है।

उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के अपवाद मुझ तक पहुंचे हैं। वे मुखबिर रह चुके हैं, इसको लेकर भी बहस हुई है। साथी क्रांतिकारियों से उनके सम्बन्ध कैसे थे, विशेष कर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद से, उसकी बहुतों ने बहुत तरह से चर्चा की है। अभी शहीद सुखदेव के छोटे भाई श्री मथरादास थापर ने बड़े परिश्रम से अपने भाई की जो सुन्दर जीवनी लिखी है वह भी अनेक मतभेदों को मुखर करती है। सिंहावलोकन एकांत रूप से प्रामाणिक नहीं है, ऐसी बहुतों की धारणा है। मैंने अनेक जीवित क्रांतिकारियों से चर्चा की पर लगता है जैसे सब कुछ धुन्ध में लिपटा हुआ है। काश कोई बन्धु उस धुन्ध को भेद कर तथ्यों की तह तक पहुंच सके। अब समय आ गया है कि हम इस या उस ओर के भावुकतापूर्ण रवैये को

छोड़ कर क्रांतिकारी ग्रांदोलन के ऐतिहासिक योगदान को सही परिप्रेक्ष्य में ग्रंकित करें ग्रौर साथ ही उसके ग्रन्तर्विरोधों को भी समझें।

साहित्य के क्षेत्र में भी वे विवाद से ऊपर नहीं रहे पर जहां तक मौलिक दृष्टि का, ग्रोज का ग्रौर जीवन से जुडने का सम्बन्ध है वे ग्रप्रतिभ हैं पर वे शिल्पकार से ग्रधिक योद्धा हैं। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों ग्रौर रूढ़ियों पर निर्मम प्रहार किये हैं। नैतिकता ग्रौर पुरानी परम्परा की कटु ग्रालोचना करते हुए स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की कहानियां लिखीं। वे ग्रादर्शवाद के विरोधी थे लेकिन जब वे साहित्य के क्षेत्र में ग्राये तो जीवन के ग्रनुभवों का ग्रद्भुत भण्डार उनके पास था। इसलिए संघर्षकालीन भारतीय समाज का ऐसा सहज ग्रौर स्पष्ट वर्णन कर सके। वे प्रेम चंद परम्परा के लेखक माने गए हैं परन्तु उनके यथार्थ में ग्रादर्श का नहीं, रोमांस का पुट है। मार्क्सवादी होने के नाते वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ग्राधार पर मूल्यों की परख करते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने पूंजीपति ग्रौर सर्वहारा वर्ग के चरित्रों की सृष्टि की है।

वह मानते थे कि साहित्य-मात्र प्रोपेगेंडा है। वे भी कल्पना के सहारे लिखते थे पर मानते थे कि कल्पना कभी जीवन के यथार्थ से विभिन्न नहीं होती। उन्होंने राजनीति ग्रौर साहित्य को समन्वित करने की चेष्टा की ग्रौर एक सशक्त रचना संसार की सृष्टि की।

वे मात्र कथाकार नहीं थे, उतने ही सशक्त चिन्तक भी थे। उनके निबन्धों के तीखे ग्रौर चुटीले व्यंग्य ग्रौर ताज़गी से उनके विरोधी भी इंकार नहीं कर सकते। लेखनी की नोक चुभोने में वे बे-जोड़ थे।

उनकी ज्ञानदान, पराया सुख, राज, उसकी जीत, भस्मावृत चिंगारी, सोना का साहस, पर्दा, ग्रौर महादान जैसी कहानियां मेरे मन पर ग्रंकित होकर रह गई हैं। वे निर्भय हो सकते थे पर बेईमान नहीं। इस दृष्टि से वे उन कृतिकारों से बहुत ऊंचे हैं जो सौम्यता का ग्रावरण ग्रोढ़ कर शब्दों का मायाजाल रचते हैं।

उनके उपन्यासों में **झूठा सच** भारत के बटवारे के युग का महाकाव्य है। सपाट बयानी का दोष उन पर लगाया गया है पर एक मित्र के शब्दों में[1] 'वैसे सपाट बयानी स्वयं में कोई गलत चीज़ नहीं है। रचनाकार की चेतना कभी-कभी उस स्थिति पर पहुंच चुकी होती है जहां उसके लिए सम्प्रेषण का प्रश्न मुख्य हो जाता है, शिल्प का गौण।'

इस या इस जैसे दूसरे मुद्दों पर बहस हो सकती है परन्तु उनके ऐतिहासिक उपन्यास इस दृष्टि से बहुत सशक्त हैं। **दिव्या** कथा प्रवाह, ऐतिहासिक तथ्यात्मकता, गठन ग्रौर भाषा-शैली, सभी दृष्टियों से एक सशक्त रचना है। इसमें उन्होंने बौद्ध धर्म के ह्रास, वर्णाश्रम धर्म के उत्थान, ब्राह्मणों के षड्यन्त्र ग्रौर दासों के विद्रोह की सामन्ती परिस्थिति में नारी चरित्र का विकास दिखाया है। पिता ग्रौर पति द्वारा परित्यक्ता नारी जब ग्रपने दूधमुंहे

---

1. ग्रनिल कुमार गंगल (सार्थक / नवम्बर, १९७६—फरवरी, १९७७).

बच्चे को लेकर बौद्ध विहार में शरण लेने जाती है तो उत्तर मिलता है, 'वेश्या स्वतंत्र नारी है उसे शरण मिल सकती है, तुम्हें नहीं।'

वह राजनीति में एक दल विशेष से सम्बद्ध थे। उनके साहित्य में उसी की ध्वनि स्पष्ट है पर मनोवैज्ञानिक चिन्तन, अभिव्यक्ति की प्रांजलता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि का अभाव नहीं है। वह कहानी कहना जानते हैं। उनका साहित्य मात्र राजनीतिक पैम्फलेटबाजी ही नहीं है। इस बात पर विवाद हो सकता है कि रोमांस के चित्रण में वह कितने तटस्थ रह सके हैं पर यह निश्चित है कि इसी कारण उनकी रचनाओं का मूल सन्देश दृष्टि से ओझल नहीं हो पाया है क्योंकि वह अन्ततः मानव जीवन की समग्रता के कलाकार हैं।

सम्मान उन्हें कम नहीं मिला पर जैसा कि होता आया है साहित्य अकादेमी ने झूठा सच और दिव्या जैसी सशक्त कृतियों को किन्हीं राजनैतिक कारणों से सम्मान के योग्य नहीं समझा। व्यक्ति को सम्मानित करना है, यही उसकी मजबूरी रही है। लेकिन जनता ने जी भर कर उन्हें प्यार किया और सराहा। उनकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही। १९६० में जब मैं भाई यशपाल जैन के साथ दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में घूमता हुआ सिंगापुर पहुंचा तो सवेरे ही दो भारतीय मूल के व्यक्ति हम से मिलने आये। मैं उस समय अकेला था। उन्होंने कहा, 'हमें बहुत खुशी है कि दादा कामरेड और देशद्रोही जैसे उपन्यासों के लेखक यशपाल यहां आ सके। कहां हैं वे?'

जब मैंने उन्हें बताया कि ये वे यशपाल नहीं हैं तो उन्हें बहुत दुख हुआ। उनके चेहरे पर अंकित निराशा को गहरे अनुभव कर सका। वे कोई बड़े लेखक या बुद्धिजीवी नहीं थे। बस ड्राइवर थे।

तो ऐसे यशपाल को मैंने दूर-दूर से ही देखा लेकिन अपने बीच के सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद और बावजूद इस बात के कि वे धुन्ध से घिरे रहे मैंने उन्हें सदा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पहचाना जिस से मिल कर मन बुझता नहीं था, खिल उठता था।



818, कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट, दिल्ली—110006

वह लोग

—राजीव शर्मा

चीड़ों के जंगल में
जब तेज़ हवा चलती है
तब
आपको आभास होगा
यह पत्ते गिराते पेड़
धीरे - धीरे
शोर मचाते
आपके कदमों तक
झुक आएंगे
पर याद रखिए,
आप और हवा मिलकर
इन्हें हिला सकते हैं
रस निकाल सकते हैं
तोड़ सकते हैं
जला सकते हैं
पर आप
अपने अहं को तुष्टि देने हेतु,
उनके ज़िंदा रहते
उन्हें
अपने कदमों तक झुका नहीं सकते

समाधान

जब लोग
बहुत परेशान हो जाते हैं,
बेचैन हो जाते हैं
भूख से
अपराधों से
जीवन की
इस अव्यवस्था से
और
चाहने लगते हैं
कोई समाधान
इन बातों का
तब
लेकर आती हैं
पत्रिकाएं
हल की बजाए
नींद की गोली
रहस्य, रोमांच
जादू टोना
और
छिछले प्रेम विशेषांक

—ढक्की सराजां, जम्मू

बर्फीली हवा और धूल

—केवल सूद

बर्फीली हवा
मुझे ही नहीं
फुटपाथ के पत्थरों को भी
काटती है
पत्थरों पर पड़े
पत्थरों को भी काटती है
और
उनकी धूल
रेज़ा-रेज़ा -धूल
मेरे नथुनों में घुस
मेरे दिलो-दिमाग में
जम जाती है...

—60 ए० / बी० आई० ए०
जनकपुरी, नयी दिल्ली—58

उपन्यास अंश : तवी, तुमने सुना नहीं

चिनाब, सांवली लड़की और शून्य

—छत्रपाल

आजकल उसे बहुत स्वप्न आने लगे हैं। कभी उसे लगता है दो समुद्र हैं। एक रेत का, एक अथाह जलराशि का। दोनों के मध्य एक ऊंचा रेत का कगार है जिस पर वह खड़ी है। रेत के समन्दर से उठते गर्म हवा और बालू के बवंडर उसे निगल जाने के लिए उसकी ओर बढ़ रहे हैं। दूसरी तरफ समुद्र की लहरें आक्टोपस के कंटीले बाजुओं की तरह उसकी ओर लपक रही हैं और वह एक दारुण अन्तर्द्वन्द्व में आबद्ध निर्णय नहीं कर पा रही कि किस ओर जाए ? रेत का कगार, जिस पर वह खड़ी है, तिल-तिल नीचे ठसकता जा रहा है और वह एक समवेत कोलाहल की लपेट में आती जा रही है।......कभी-कभी वह देखती है, वह किसी सुनसान जंगल में भटक गई है। वृक्ष, प्रेतात्माओं की भांति चारों ओर से उसकी ओर हाथ बढ़ा रहे हैं। या फिर......

अंधेरा फैलता जा रहा है और वह रास्ता भूल गई है। दूर से उसे कहीं एक रोशनी नजर आती है जैसे क्षितिज के हाशिए पर एक दिया टिमटिमा रहा हो ! लेकिन मीलों के फासले तय करने के बाद भी रोशनी पहले जितनी ही दूरस्थ नज़र आती है।

जहां सभी ओर अंधेरा हो, उड़ती चमगादड़ें चेहरे से टकरा चिचिआती भाग रही हों, वहां दूर से दीखती लौ की ओर बढ़ना और कुछ हो न हो, विवशता जरूर होती है।

अपने अवचेतन पर छाई धुन्ध को हटा कर जब भी नमिता ने कहीं गहरे झांकने की कोशिश की है तो रेडियम से अंकित एक ही चेहरा नज़र आया है। वह उसे पहचानती है। यदि उसने रोशनी को बाहों में लिया तो क्या वह जल न जाएगी ? उसने सोचा। वह जलना ही तो चाहती है। उसे इतनी हरारत की आवश्यकता है कि बर्फ की सिल्ली जल्दी-जल्दी पिघले और उसमें फंसा बीज आज़ाद हो ! कांचघर की दीवारें चटक जाएं और लोक कथाओं की अभिशप्त आत्मा की तरह उसे उससे मुक्ति मिले।

उसने सभी स्थितियों पर बार-बार विचार किया है। यदि वह विकास के पास चली गई तो उसे ये भौतिक सुविधाएं उपलब्ध नहीं होंगी और न ही इतना सुख मिलेगा—

ज़िन्दगी निरन्तर संघर्षों की शृंखला बन जाएगी। उसे यह सब मंजूर है यदि विकास उसे उसके होने का अहसास सदैव करवाता रहे—उसके प्रति एकनिष्ठा होकर! वह कभी किसी की ओर आंख उठा कर नहीं देखेगी। विकास के साथ वह एक साथ कई सम्बन्ध बना लेगी—मित्र, सहकर्मी, सहचरी! और उसमें सभी रिश्तों की तलाश करेगी। एक रिश्ता छूट गया तो दूसरे को पालेगी।

आशुतोष के साथ तो केवल एक ही सम्बन्ध है! दैहिक सम्बन्ध! और वह भी काफी दिनों से......आशु का विचार आते ही उसका मन कड़ुवाहट से भर उठा।

वह समझ न सकी कि सम्बन्धों की इस टूटन का क्या कारण है? आशु के प्रति उसकी जुगुप्सा अथवा विकास के प्रति आकर्षण! या दोनों?

●

दरवाज़ा नॉक कर वह भीतर आई। विकास अपनी चेयर पर था और उसके ठीक सामने टेबुल के पास कोई दाढ़ी वाला वर्कर था, जो विकास को अपनी बात समझाने की कोशिश कर रहा था। उसे भीतर आता देख उसने घूर कर देखा, मानो उसकी बेवक्त की उपस्थिति पर उसे घोर आपत्ति हो।

—आओ नमिता, बैठो। विकास ने अपने पास की एक कुर्सी की ओर इशारा करते हुए नमिता से कहा।

—पहले मेरी पूरी बात सुन लीजिए। मेज़ थपथपा कर वर्कर ने विकास के उखड़े हुए ध्यान को अपनी ओर खींचने की कोशिश में कहा।

—आप की बात मैंने पूरी तरह समझ ली है। हमारी यूनियन उस पर गौर कर रही है, यह मैं आपको पहले भी बता चुका हूं। कृपया आप जाइए। मुझे और काम भी देखने हैं।

—कहां समझी है आपने मेरी बात। उसने उठते-उठते नमिता की ओर घूर कर देखा। आप के पास मेरी बात के लिए वक्त ही कहां है? खैर आप इन से निपट लें, मैं बाहर बैंच पर बैठा हूं।

नमिता को उसके व्यवहार पर बड़ा क्रोध आया। कैसे-कैसे उजड्ड लोगों के बीच विकास को काम करना पड़ता है। ऐसे में वह अपने भीतर की कोमलता कैसे सुरक्षित रख पाया है। कमरे में विकास को अकेला देख उसने उसका हाथ पकड़, उसे खींचते हुए कहा—उठो......

—अरे-रे, यह क्या करती हो, यह मेरा दफ्तर है घर नहीं। बाहर वह भेड़िया बैठा है, कुछ तो लिहाज करो।

—आज कोई लिहाज नहीं होगा। बस, उठो इसी वक्त। कहीं चलना है बाहर

जरूरी काम से। नमिता को एक बार भरपूर नज़रों से देखते हुए विकास ने मुस्कुरा कर पूछा—आज बड़ी प्रसन्न नज़र आ रही हो, क्या बात है ?

—आज मुझे लग रहा है मानो मैं खुशबू की लपटों में सुलग रही हूं। तुम इस से कैसे अछूते रह सकते हो ? चलो उठो।

विकास उठते हुए बोला—तुम मेरा जुलूस निकलवाओगी किसी दिन। यहां मेरे लिए कितना काम पड़ा है और आप हैं कि मन की भड़ास निकालने के लिए कोई साधन ढूंढ रही हैं।

उन्हें कमरे से बाहर निकलते देख कर वह वर्कर खड़ा हो गया—मैं यहां आपका इन्तज़ार कर रहा हूं और आप इनके साथ चल पड़े हैं।

नमिता को उसका अपनी तरफ घूरना बहुत बुरा लगा।

—मुझे कहीं जाना पड़ गया है आप कल तशरीफ लाइएगा। मैं वर्किंग कमेटी के सामने आपका मामला रखूंगा।

बिना रुके वह जीने की तरफ मुड़ा। नमिता भी उसके पीछे-पीछे उतरने लगी।

—दुर्गादास इस ऑफिस में अब ताला लगा दो। विकास बाबू ने शायद कहीं कोई और जगह ढूंढ ली है। वर्कर ने ऊंची आवाज़ में दफ्तर के चपरासी से कहा।

नमिता और विकास ने सुना तो एक दूसरे की ओर देखा—मैंने कहा था, तुम किसी दिन मेरा जुलूस निकालवाओगी।

—बस अब चलते चलो, कुछ बोलना मत। नमिता सीढ़ियां उतरती हुई बोली।

गाड़ी में बैठते हुए नमिता ने विकास से कहा–तुम्हें तुम्हारे वर्तमान से किडनेप करके अतीत की ओर ले चली हूं। पिछले दस वर्षों से एक बार भी अखनूर नहीं गई। कैसे होंगे वे स्मृति-अवशेष जो हमने वहां छोड़े थे ?

नमिता की अधीरता पर विकास को सुखद आश्चर्य हुआ। तो क्या नमिता के साथ सचमुच इतना कुछ घट गया है जो वह अतीतजीवी हो गई है।

अवशेष तो निर्जीव होते हैं, वह क्या बदलेंगे। अलबत्ता लोग अवश्य बदल गए हैं और किले की कुछ मरम्मत हो गई है। शेष सभी कुछ पहले जैसा है ! विकास ने खिड़की से बाहर नहर की तरफ देखते हुए कहा। नहर की गति और गाड़ी की रफ्तार विपरीत दिशाओं में थी और पानी अचल दिखाई देता था।

सड़क के दोनों किनारों पर अब तम्बू नजर आने लगे थे ! आगे चल कर तम्बुओं का नगर-सा आ गया।

यह शरणार्थी कैम्प है। सीमा प्रदेश छम्ब से बेघर होकर आए लोगों के कैम्प ! विकास ने बिना नमिता के पूछे बताया। यह भी मेरा कार्य-क्षेत्र है।

—कितनी अजीब बात है कि कुछ लोग घर उजड़ने पर बेघर होते हैं और कुछ घर के होते हुए भी बेघर-बार हो जाते हैं। नमिता ने नहर-किनारे कपड़े कूटती औरतों को देखते हुए कहा।

विकास अपलक उसे देखता रहा।

—तुम्हें यह एहसास होता होगा, लेकिन जब मैं इन लोगों को देखता हूं तो सोचने लगता हूँ कि मैं अकेला गृहहीन नहीं, और भी हैं।

—तुम भी कभी घर के विषय में सोचते हो? नमिता ने उससे पूछ लिया।

—आदमी न भी सोचे तब भी एक घर आदमी के भीतर रहता है। उस घर में कुछ किलकारियां होती हैं, कुछ कहकहे, और कुछ सम्वेदना-कक्ष। आदमी जहां भी जाता है वह घर उसके साथ-साथ चलता है।

विकास अपनी बात धारा-प्रवाह बोलता जाता यदि नमिता उसकी बात को प्रश्न की कैंची से काट नहीं देती।

—क्या वह घर सभी को मिलता है?

विकास ने कोई उत्तर नहीं दिया।

शरणार्थी कैंप पीछे रह गए थे। केवल नहर सड़क की उल्टी दिशा में मंथर-गति से बह रही थी। थोड़े अन्तराल के बाद विकास अपने विचारों से उभरा।

—शायद हां, शायद नहीं.........

—जिन्हें नहीं मिलता वह कौन होते हैं?

शायद वे लोग जिन्हें घर नहीं एक महल चाहिए होता है। वे एक दिन अपने भीतर के उसी महल के मलबे के नीचे दब जाते हैं। जैसे.........

—रुक क्यों गए? कह दो जैसे नमिता......

नमिता के रुआंसे स्वर को सुन कर वह चौंक पड़ा।

—आ'म सारी, बेवक्त की बात कहां जाकर मिलती है! मैंने जानबूझ कर......

—अच्छा अब चुप करो! नमिता ने उसे मीठी डांट देते हुए कहा।

—लो चुप हो गया! ओठों पर उंगली रखते विकास बोला।

नमिता मुस्कुरा दी!

—तुम इतने बड़े-बड़े जलसों और जलूसों का नेतृत्व कैसे कर लेते हो विकास।

सड़क की बाईं ओर अब दरिया फुफकारने लगा था और उस पार किनारे पर किसी अभिशप्त प्रेत-सा बेडौल किला दृष्टिगोचर होने लगा था।

—अखनूर पहुंचने पर मैं सब से पहले किले की बुर्जी पर चढ़ कर दरिया को देखूंगी, और एक कंकर नीचे फेंकूंगी।

विकास मौन था, मौन रहा।

पुल पर हरा सिगनल मिला तो नमिता ने कार आगे बढ़ाई।

—पुलों का नदियों के लिए कितना महत्व होता है ! मैं जब भी पुल पर से गुजरती हूं तो जाने क्यों लगता है कि यह चरमरा कर नदी में जा गिरेगा और साथ में मैं भी।

विकास पुल के नीचे चिनाब की चट्टानों से सर पटक-पटक कर उछलती लहरों को देखने का उपक्रम करने लगा।

एक तवी है जो कितनी विपन्न है और दूसरी चन्द्रभागा है जो कितनी समृद्ध है। नदियां रेत में बिखर कर कितनी दयनीय हो जाती हैं.........

दस साल बाद वे पुन: पत्थरों के उस शहर में आए थे। नमिता ने सब से पहले किले की बुर्जी पर जाने की इच्छा प्रकट की।

दरिया किनारे एक ऊंचे कगार पर बने किले की चोटी पर पहुंचते-पहुंचते नमिता हांफने लगी।

—पिछली बार जब हम यहां आए थे तो मैंने तुम्हारा हाथ थामा हुआ था। इस बार जब बुरी तरह हांफ गई, तो भी तुमने मुझे सहारा नहीं दिया। हालांकि इस बार मुझे इसकी अधिक आवश्यकता थी। किले की बुर्जी पर बैठ कर नमिता ने आंखें चुरा कर कहा।

—मैंने सोचा अब तुम शायद ऊचाइयों पर चढ़ने की अभ्यस्त हो चुकी होगी।

—देखो, यदि इस तरह की सड़ी हुई बातें करोगे तो मैं नीचे दरिया में कूद पड़ूंगी।

नमिता दूर नीचे दरिया में शहतीरियों के एक झुण्ड पर एक 'तारू' को लम्बा बांस ले लहरों से जूझते देखती रही। मैं जब भी इस दरिया को देखती हूँ तो इसमें कूद पड़ने की टेम्पटेशन को बड़ी मुश्किल से रोक पाती हूं इस लिए मुझे इस से बहुत खौफ आता है। इस में एक भयावह सम्मोहन है।

—शायद हमारी लोकदास्तानों की नायिकाएं इसी सम्मोहन में बंधी इसमें कूदती रही हैं। और इससे पहले कि तुम भी ऐसी किसी लोकदास्तान की नायिका बन जाओ, फॉर गॉड सेक नीचे चलो।

किले की भरकम दीवारों पर बन्दर उछल-कूद मचा रहे थे। दीवारों में फूटी बिवाइयों में लम्बी दुम के तोते भीतर आ जा रहे थे। नमिता ने ऊपर आकाश को देखा और चन्द्रभागा को छूकर आती हवा के ठंडे झोंके को सांसों में भर लिया।

—यहां से आकाश कितना नजदीक लगता है।

—लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं।

—यह आज तुम्हें क्या हो गया है। मैं जब भी किसी कल्पना में डूबना चाहती हूं, तुम कोई ऐसी बात कह देते हो कि मैं चन्द्रभागा द्वारा अस्वीकृत 'शहतीरी' की तरह किनारे पर पटक दी जाती हूं। कहीं इस शहर से जुड़ी तुम्हारी स्मृतियों ने रिसना तो नहीं शुरू कर दिया ?

सीढ़ियां और फिर टिब्बा उतरते हुए विकास को पहली बार अनुभव हुआ कि वह सचमुच सहज नहीं है। कोई फांस कहीं से आकर भीतर धंस गयी है।

इस कस्बे में तब निशा थी। यहां उसके सेन्टर में यूनियन की मीटिंगों के लिए वह यहां आता तो उसी के पास ठहरता था। निशा के सम्पर्क में रह कर उसने पहली बार इस फांस की चुभन महसूस की थी। पर न तो उसने कभी इसे व्यक्त किया और न ही निशा ने जाना, या शायद उसकी हालत देख कर वह जानबूझ कर अनजान बनी रही। एक दिन शाम को वह निशा के पास गया तो वह बेहद खुश थी। निशा ने उससे पूछा था—ज़रा 'गैस' तो करो कि मैं आज इतनी खुश क्यों हूँ?

वह सोच में पड़ गया था। निशा ने उसे चाय की प्याली पकड़ाई तो उसकी आंखें पुष्ट सांवली अनामिका पर खरगोश की आंख की तरह चमकते नगीने पर जम गई थीं!

निशा ने उसे अंगूठी की तरफ घूरते देख लिया था। वह हलके से मुस्कुराई थी उसे लगा, कुछ खत्म हो गया है।

—कौन है? उसने अन्ततः पूछ ही लिया था। बात को एकदम महसूस कर लेने की उसकी असाधारण क्षमता पर निशा को भी आश्चर्य ही हुआ था।

शाम हो आई थी। बत्ती नहीं थी।

उसका मन हुआ नीम अंधेरे में निशा की उंगली से अंगूठी उतार ले।

सभी कुछ अरेंजड था। घरवालों की तरफ से। मोमबत्ती की रोशनी में उसे तब निशा आम दिनों से अधिक स्निग्ध और ग्रेसफुल लगी थी!

—यार, कम से कम विवाह से पहले एक इश्क ही कर लेतीं, बाद में पश्चाताप करोगी सीधे शादी हो गई। उसने अपने भीतर इस शाक को एब्ज़ार्ब करते सहज होते हुए कहा।

—कोई मिला ही नहीं। अच्छा-सा लड़का मिले तो अब भी कर लूं। अभी तो विवाह में दो चार महीने शेष हैं।

विकास के कंठ से बुलबुलों की तरह कुछ शब्द उभरे थे। वह हल्के से क्या बुदबुदाया था, उसे अब याद नहीं। वह उठकर जाने लगा था। निशा ने गेट पर रुक कर कहा था—आते रहना!

—अच्छा! उसने हौले से कहा था जो शायद ही निशा को सुनाई दिया होगा!

बाहर अंधेरा था। निशा ने टार्च की रोशनी फैंकी थी। वह अंधेरे के जंगल में टार्च की रोशनी की उस सीधी पगडंडी पर धीरे-धीरे चलता रहा था। कुछ दूर जाकर पीछे से आती रोशनी की पगडंडी एकाएक अंधेरे में घुल गई। अपने पीछे उसने फाटक बन्द होने की आवाज़ सुनी...एक पल के लिए वह ठिठका। मुट्ठियां भिंच गई थीं! मुड़ कर देखा नहीं था!

—जरूर तुम उस सांवली लड़की के विषय में सोच रहे होगे ! नमिता ने जियापोता की सीढ़ियों पर बैठ कर अपने पैरों को पिंडलियों तक पानी में डुबोते हुए कहा।

विकास थोड़ी देर चुप रहा—तुम ठीक कह रही हो। मैं उसी के ख्याल में बह गया था। तुम स्वयं ही तो कह रही थीं कि तुम मुझे मेरे वर्तमान से चुरा कर अतीत में ले आई हो !

लेकिन इस सांवले अतीत में नहीं। उस गोरे अतीत में लाना चाहती थी जो हमारा सांझा है।

मैं तो तुम्हें बताना ही भूल गया। जिस चबूतरे पर तुम इस वक्त बैठी हो कभी यहां महाराजा गुलाब सिंह का राज्याभिषेक हुआ था।

नमिता अचकचा कर उठ बैठी। उठते-उठते हवा उसकी साड़ी को घुटनों तक उघाड़ ले गई। विकास के सामने पल भर के लिए रेशमी उजास फूटा और उसकी आंखें चुंधिया गईं।

नमिता ने उसकी आंखों के भाव को भांप कर झट-से साड़ी के बार्डर को पैरों के नीचे दाब लिया।

— क्यों, उठ क्यों गईं ? बैठी रहो न।

—इस चबूतरे पर नमिता नहीं विकास बैठेगा।

विकास अपलक देखता रहा। नमिता ने यह किस अर्थ में कहा है, वह सोचने लगा।

कुछ बच्चे दौड़ते हुए आए और चबूतरे से दरिया में कूद गए। पानी के ठंडे छींटे नमिता के गाल पर पड़े। उसे सिहरन-सी हो आई।

चलो यहां से चलें। अब यहां भीड़ होने लगी है।

वे दोनों घाट की सीढ़ियां चढ़ने लगे। भीड़ सचमुच बढ़ने लगी थी। कुछ साधु चबूतरे पर आकर बैठ गए और चिलम भरने लगे।

दरिया की सां-सां अब पीछे रह गई थी। बाज़ार से गुजरते समय नमिता विकास से सट कर चलने लगी। तीन गलियों के तिराहे पर विकास एक मकान के आगे ठिठक गया।

—क्या बात है ? नमिता ने पूछा —

—आगे चल कर बताता हूं।

कुछ दूर जाकर नमिता ने मुड़ कर देखा। उस घर की खिड़कियों के परदे हिल रहे थे।

—क्या था ?

—निशा कभी इस मकान में रहती थी। छत पर खड़ी होकर कभी-कभी हम दरिया की सां-सां सुनते थे। उसे भी दरिया से बहुत डर लगता था। जितनी देर यहां रही एक बार भी नज़दीक जाकर नहीं देखा।

नमिता की नज़रें बरबस पीछे मुड़ीं। लेकिन वे काफी आगे आ गए थे। अब उस मकान की खिड़कियां तक भी दिखाई नहीं दे रही थीं।

नमिता ने एक उसांस छोड़ी।— आदमी कितना बेबस है, चाहने पर भी अतीत से मुक्ति नहीं पा सकता। बल्कि यादों के पिन लेकर पुराने जख्मों को कुरेदता है।

विकास कुछ उदास हो गया था!

—परन्तु तुम क्यों अपने समय की दिशा अतीत की ओर मोड़ते हो विकास! तुम्हारे सामने तो एक निर्दिष्ट लक्ष्य है जिस पर तुम निरन्तर आगे बढ़ रहे हो।

विकास मौन चलता रहा। कुछ आगे कार तक पहुंचने पर बोला—छोड़ो इन बातों को। कहां उलझ गए हम। एक दूसरे के अतीत की जुगाली करने लग पड़े। तुम बताओ, सर आशुतोष को बता कर आई हो न!

मैंने कहां बताया उसे! वह दफ्तर गए तो मैं सीधी तुम्हारे पास चली आई थी। मैं अब मन ही मन अपने को आशु से अलग मानने लगी हूं।

—वह क्या कहेंगे?

— मेरी बला से! नमिता ने स्टीयरिंग संभालते हुए कंधे उचका दिए।

—अरे चाबी मैं कहीं भूल आई हूं—किले पर या चबूतरे पर। अब क्या करें?

—मुझे पूरा विश्वास है किले पर ही रह गई होगी—ऊंची जगह।

—फिर टांट करने लगे न! चलो मेरे साथ वापिस वहां।

किले का टिब्बा चढ़ते वक्त नमिता का हाथ विकास के हाथ में था। ऊपर आकर विकास चाबी ढूंढने लगा। नमिता आंखें मूंद कर दीवार पर बैठ गई— चढ़ी हुई सांसों का तूफान सम्भालती-सी। चाबी ढूंढते-ढूंढते विकास को लगा, किले की छत अतीत का एक बहुत बड़ा फलक है जिस पर वह विशेष स्मृति-चिन्ह तलाश कर रहा है।

—नहीं मिल रही। विकास ने दूसरे सिरे से पुकारा।

—यह रही। नमिता ने बुर्जी के पास-से नीचे पड़े चाबियों के रिंग को उठा लिया।

पहाड़ी उतरते वक्त नमिता की पसीजी हथेली को अपनी मुट्ठी में भींचे-भींचे विकास ने पूछा—बताओ, जानबूझ कर की-रिंग ऊपर क्यों भूल आई थी?

—ताकि एक बार फिर तुम्हारा हाथ पकड़ कर इस टिब्बे पर चढ़ सकूं, उतर सकूं। नमिता के नाखून विकास की हथेली में गढ़ गए!

अखनूर से वापसी पर पूरे रास्ते विकास नमिता को जोक्स सुना-सुना कर हंसाता रहा।

शहर की हदों में दाखिल होने पर नमिता ने गाड़ी की स्पीड धीमी कर दी।

—मुझे कहां उतारोगी ?

—जहां तुम कहोगे ।

—अच्छा होता यदि पीछे उतार देतीं । अब सोच रहा हूं कहां जाऊं ?

—यह दोहरे अर्थों वाली शैली छोड़ो और सीधी तरह मेरे साथ 'स्टेंडर्ड' में चलो । लेट्स पार्ट ओवर कप आफ काफी ।

जवाब की प्रतीक्षा किए बिना नमिता ने कार 'स्टेंडर्ड' की तरफ मोड़ दी ।

सड़कों पर बत्तिआं जल चुकी थीं और बाजारों में भीड़ हो चली थी !

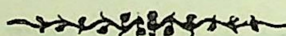
शाम गहराए नमिता के जाते ही विकास के भीतर एक शून्य घिरने लगा । ऐसा शून्य, जिसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, लेकिन जो कभी समाप्त नहीं होता । बढ़ाने पर भी शून्य ही रहता है और घटाने पर भी शून्य ही ।

तब निशा ने कहा था, शून्य एक ऐसी भट्ठी है जिसमें पड़ कर सभी संख्याएं स्वाहा हो जाती हैं । जिस अंक के साथ शून्य लगता है उसकी पहचान ही खत्म हो जाती है ।

शायद निशा अपनी पहचान कायम रखने में विश्वास रखती थी ।

वह ठीक थी, विकास ने सोचा ।

—145, चौगान फत्तू
जम्मू ।



दो कविताएं

मेरे नन्हें

—रोहिणी राव

मेरे नन्हें तेरी मुस्कान
विश्व का भविष्य है
नन्हें-नन्हें कदम
कल की ऊंचाई हैं
और तेरा मस्तक प्रगति की
कसौटी है
तेरी तक्दीर की रेखाओं में
विश्व का नक्शा है
तेरी किलकारी, तेरी हंसी, तेरा रोना
क्रांति का पहला कदम है
तेरी आज़ाद मुस्कान पे
कभी ताले न लगें
क्योंकि मेरे नन्हें तेरी मुस्कान
विश्व का भविष्य है
जब तू सोता है
मुझे लगता है ऐसे
तुझे ग्रन्थ की तरह
पढ़ती रहूं
जब तू जाग जाता है
मेरा जीवन नया अध्याय
बन जाता है
पतंग के धागे की तरह
तू जब मेरा आंचल पकड़ता है
कई समन्दर मेरे पल्लू में
बंध जाते हैं
तब आकाश की ऊंचाई
मेरे कदमों तले होती है
नन्हें तेरी बाहों पे
दिशाएं नाचें
मन्ज़िल तेरे कदमों से
खुद अपना पता पूछे
तू धरती का सवेरा बने
आकाश की रौनक
क्योंकि मुझे विश्वास है
मेरे नन्हें
तेरी मुस्कान विश्व का भविष्य है

यह सच है

यह सच है कि एक दिन
सारी दुनिया तुम्हारी होगी
लेकिन मैं और तुम
एक बीते हुए लम्हें
की तरह होंगे
और किसी जंगली परिन्दे से
एक इन्च उड़ान के लिये
पंख मांग रहे होंगे
उस वक्त हम दोनों के मध्य
बहने वाला दरिया भी
सूख चुका होगा
और किनारा वक्त की पीठ पर
बैठकर बह गया होगा
तब हम जीवन का
हर अनुभव
एक दूसरे के चेहरे से
पढ़ेंगे ।

—शास्त्री नगर, जम्मू

कहानी

रिश्तों के बन्धन

— दीदार सिंह

जब मैंने धीमी सी आंखें खोलीं तो मुझे आसपास खड़े कितने ही धुन्धले से चेहरे दिखाई दिए। लेकिन उस धुन्धलके में भी उन चेहरों पर जो चमक आई, वह अन्धेरे में प्रकाश की भान्ति स्पष्ट दिखाई देती थी। मैंने फिर आंखें बन्द कर लीं और मस्तिष्क के किवाड़ खोल दिए। मैं बिखरी हुई सोचों को समेटने लगा— मैं यहां कब आया, कैसे आया और मेरे पास कौन-कौन खड़ा है— कब से खड़ा है —कौन रात भर जागता रहा होगा—कौन रोता रहा होगा। मेरे मन की आंखों के सामने कई चेहरे चक्कर काटने लगे।

मैंने फिर आंखें खोलीं—पुतलियों को इधर-उधर घुमा कर देखा—देखा कि पास खड़ी आंखों में से कितनी ही गीली हो गई हैं— दुःख और चिंता के आंसू अकस्मात ही खुशी के आंसू बन गये। उन आंखों को देख कर मुझ में सहसा जीने की चाह तीव्र हो उठी। मुझे जीना है—हर हालत में जीना है।

कैसा विचित्र दृश्य है— मेरी पत्नी की आंखें छलक रही हैं – और होठों से मुस्कान बरस रही है—कितनी निश्छल और सस्नेह है यह मुस्कान। मैं देख रहा हूं कुछ बाहें लपक कर मुझ से लिपटने को व्याकुल हैं—लेकिन एक दूसरे की उपस्थिति सबको संयम में रखे है। यहां पता लगता है कि लोग मुझ से कितना प्यार करते हैं। जो मुझ से सम्बन्धित नहीं—मुझ पर आश्रित नहीं— वे भी कितना प्यार करते हैं।

अभी तक कोई नहीं बोला—शायद किसी को यकीन नहीं आया कि मैंने आंखें खोली हैं—मैं होश में आ गया हूं। फिर मेरा हाथ किसी ने दबाया—यह मेरी पत्नी है। कितना कुछ कह गई वह इस क्षणिक स्पर्श से। यहां पता चलता है कि हमारी भाषा कितनी अधूरी है। इस समय भाषा मेरी पत्नी के वेग को व्यक्त करने में असमर्थ है— उन भावों के लिए कोई शब्द नहीं—लेकिन क्षणिक स्पर्श मात्र से इतना कुछ कह गई जो कोई भी भाषा न कह सके और फिर वे आंखें—जो यह सोच रही हैं कि उन्हें भी हाथ दबाने का अधिकार है कि नहीं?

"पापा।"

यह किसने जल-तरंग छेड़ दिया। अरे यह तो मेरे बेटे की आवाज है—मेरे होश

में ग्राने के बाद पहली ग्रावाज़ मैंने सुनी है। मैंने उसे ग्रांख के इशारे से ग्रपने पास बुला लिया। इस समय चाहे कोई ग्रांख नम है या किसी होंठ पर मुस्कान है—लेकिन सभी की भाषा एक सी है ग्रौर सभी एक ही भाव को व्यक्त कर रहे हैं।

कभी जाने या ग्रनजाने में जिन लोगों का मैंने दिल दुखाया होगा वे भी सब कुछ भूल कर मुझे जीवित देखने के इच्छुक हैं।

"ग्रब तबीयत कैसी है"? पास से किसी की ग्रावाज़ ग्राई जो पहचानी नहीं जा रही।

"जान है तो जहान है। काम तो होते ही रहेंगे। भला इतना भी काम में खोने की क्या जरूरत कि जान की भी न होश रहे" मेरा एक दोस्त कह रह है।

हां हां मुझे याद ग्रा गया। मैं यहां कैसे पहुंचा। हां हां मुझे तो जीना है—हर हालत में जीना है— ग्रपने लिए नहीं— ग्रपनी पत्नी ग्रौर बच्चों के लिए भी नहीं ग्रपने मित्रों के लिए भी नहीं— बल्कि ग्रपनी दस वर्ष की साधना के लिए—दस वर्ष की उस तपस्या के लिए जिस में मैंने दिन-रात एक कर दिया— जहां मैं खाना-पीना भूल गया। मेरी यह तपस्या— जिसका सम्बन्ध पूरी मानवता से है— ग्राने वाली पीढ़ियों से है— देश तथा विश्व के भविष्य से है।

पूरे दस वर्षों की साधना के बाद मैं ग्रपनी मन्जिल के करीब पहुंच पाया हूं। लेकिन ग्रभी तक मेरी सारी शोध मेरे मन तक ही सीमित है। इसे मैंने कागजों पर उतारना है—व्यावहारिक रूप देना है। यह फारमूला दुनिया के सामने पेश करना है।

मेरे इस फारमूले से दुनिया से भूख ग्रौर गरीबी दूर हो जाएगी। कोई भूखा नहीं रहेगा— पौष्टिक तत्वों के ग्रभाव से बच्चे बीमार ग्रौर ग्रपाहिज नहीं होंगे—भूख के मारे हड्डियों के कंकाल ग्रौर ग्रन्दर को धन्सी हुई ग्रांखें नहीं मिलेंगी। ग्रब न केवल प्रत्येक घास फूस झाड़ी-पत्तों से प्रोटीन हासिल किये जा सकेंगे। ग्रपितु लोग ग्रपना कई दिनों का भोजन जेबों में लिए घूम सकेंगे। ग्रन्तरिक्ष में जाने वाले यात्रियों तथा समुद्र-तल की खोज करने वाले साहसियों को भोजन की समस्या का सामना नहीं करना पड़ेगा।

उफ ! यह सहसा टीस कहां उठी ?

ऐसा लगता है उन लोगों से मैं फिर दूर ग्रा गया हूं। यहां से वे दिखाई नहीं देते ग्रौर न उनकी ग्रावाज़ें सुनाई देती हैं। यह पास खड़े-खड़े लोग ग्रचानक इतने दूर कैसे चले गए ?

हां-हां वही धुन्धले चेहरे फिर उभरने लगे हैं। ग्रब की उन चेहरों पर वैसी चमक नहीं ग्राई जैसी मेरे पहले होश में ग्राने पर ग्राई थी।

लेकिन मुझे इस कदर जकड़ा क्यों है ? एक सूई मेरे बाएं बाजू में गई है—एक नाली मेरे नथने में दी गई है—सर मेरा जैसे किसी शिकंजे में जकड़ा है—ग्रौर मेरे पास लटक रही एक तरफ लाल रंग ग्रौर सफेद रंग की बोतल।

लाल रंग मुझे बहुत प्रिय लगता है—लाल रंग के फूल कितने सुन्दर होते हैं। लाल साढ़ी से लिपटा बदन कितना आकर्षक लगता है– चेहरे पर लाल रग का नूर कितना शोभा देता है। मैंने भी हर चेहरे पर लाल रंग देखने का सपना देखा है। मैं भूख से कुमलाए पीले चेहरों पर उषा की लाली नाचती देखना चाहता हूँ। कहते हैं आखरी समय व्यक्ति झूठ नहीं बोलता। मैं भी सच कह रहा हूं कि मुझे मृत्यु का भय नहीं– जीवन से चिपटे रहने का मोह नहीं—लेकिन मुझे थोड़ी सी मोहलत चाहिए—बस अपनी दस वर्ष की साधना को कार्यान्वित करने की मोहलत—अपने शोध, अपने ज्ञान परीक्षण, अपने अध्ययन तथा निष्कर्ष को सैद्धान्तिक रूप में प्रस्तुत करने की मोहलत ताकि इस फारमूले को कोई भी और कभी भी व्यवहार में ला सके।

सहसा मेरे नथने से नाली निकल गई है। मेरे मुंह से रक्त बह निकला है। चारों ओर हलचल सी पैदा हो गई है। डाक्टरों और नर्सों की भीड़ बढ़ जाने से मेरे पास खड़े चेहरे कमरे से बाहर चले गए हैं। वे चेहरे अचानक डूबने लगे हैं। आंखें मायूस क्यों हो गई हैं? मैं तो पीड़ा और वेदना की ऐसी तीव्रता से गुजर चुका हूं कि अब आराम का समय याद ही नहीं आ रहा है। मानो पीड़ा भी अनुभूति का एक सतत अंग बन गई हो।

डाक्टरों की परेशानी देख कर मेरी चिन्ता बढ़ गई है—मुझे अभी जीना है। मैंने एक डाक्टर से कहा, "मैं मरना नहीं चाहता।" उसने कोई उत्तर नहीं दिया। भला इसमें उत्तर देने वाली भी कौनसी बात है। कोई भी व्यक्ति खुशी से नहीं मरना चाहता। डाक्टर भी तो रोगी की अन्तिम सांस तक उसे बचाने का भरसक प्रयास करते रहते हैं।

मैंने दूसरे डाक्टर से प्रार्थना की—"डाक्टर मुझे बचा लो।"

उसने भी कोई उत्तर नहीं दिया। सभी डाक्टर मेरी ओर खोजी नजरों से देखते हैं—फिर अपने होंठ हिलाते हैं। होंठ हिलते हैं तो कोई बात जरूर करते होंगे। फिर मुझे क्यों नहीं सुनाई देता। मैं फिर चिल्लाया "मैं मरना नहीं चाहता। आई शैल हैव टु लिव।"

फिर कोई उत्तर नहीं। होंठ हिल रहे हैं। क्या मेरी आवाज उन्हें सुनाई नहीं देती? हां, मुझे भी तो उनकी आवाज नहीं सुनाई देती। मैं हाथ से उन्हें समझाना चाहता हूँ लेकिन वे मेरा हाथ पकड़ लेते हैं—शायद मेरा हाथ हिलना मेरे लिए खतरनाक है। मुझे इस समय किसी खतरे की चिन्ता नहीं। मैं मरने से पहले अपने जीने की साधना, समूचे जीवन की तपस्या या प्राप्ति को उगलना चाहता हूं—इस विरासत को किसी के हवाले करना चाहता हूं।

मैं फड़फड़ाने लगता हूं—हिंसक रूप धारण कर लेता हूँ। मुझे कई लोगों ने कस के पकड़ लिया है। खेद, इस समय मेरी आवाज भी मेरा साथ छोड़ गई है। जी चाहता है मुझ में इतनी शक्ति आ जाए कि इस जकड़ को तोड़ कर भाग जाऊं और अपने अन्दर के तूफान को किसी कागज पर उगल दूं। लेकिन यह लोग तो मुझे हिलने ही नहीं देते।

"कागज़ और कलम लाओ"—मैं चिल्लाया ताकि मैं इन्हें लिख के समझा सकूं। लेकिन मेरी आवाज़ किसी ने सुनी ही नहीं। मैं फिर चिल्लाया। यदि इस समय मुझे कलम और कागज़ दे दें तो मैं जल्दी से अपने फारमूले का मोटा-मोटा रूप तो लिख दूं।

लेकिन मेरी आवाज़ तो कोई सुनता ही नहीं। मैंने एक बार फिर अपनी पूरी शक्ति लगाई लेकिन मेरा बदन भी जैसे मुझसे बागी हो गया हो। मेरा शरीर मेरी भावना (स्पिर्ट) का साथ क्यों नहीं दे रहा। यह सहसा सारे ताल-मेल क्यों टूट गये ?

अब मैंने अपने आपको भाग्य के हवाले छोड़ दिया है—डाक्टरों के आगे हथियार डाल दिए हैं। मन ही मन में ईश्वर से प्रार्थना करने लगा हूं—मुझे बचा लो—थोड़ी देर के लिए ही सही—एक बार मेरी आवाज़ मुझे लौटा दो—थोड़े समय के लिए ही सही।

यह क्या ? डक्टरों के चेहरे भी उतरने लगे। क्या इन्हें भी सफलता नहीं मिली। यह भी मायूस हो गये ? मुझे दरवाज़े के बाहर बैठी उन आंखों का ख्याल आता है जो आंसुओं तथा चिन्ता में डूबी होंगी और जिनके दिल हथौड़ी की भांति बज रहे होंगे।

मैं एक-एक करके अपने प्रिय जनों को याद करने लगा हूं—जिनसे मुझे प्रेरणा मिली, सांत्वना मिली—सपने मिले—सरसता मिली—मार्ग मिला—स्नेह मिला—सहानुभूति मिली—सहयोग मिला और—और प्यार मिला। काश मैं अपने सभी प्रिय-जनों को अभी एक बार देख सकता। लेकिन उनमें से कितनों को इस समय मेरा ध्यान भी न होगा—उन्हें क्या मालूम कि इस समय मैं उन्हें कितना याद करता हूं—उनकी एक झलक देखने को छटपटाता हूँ—बाद में चाहे वे मेरी एक झलक को, और मेरी आवाज़ सुनने को तड़पेंगे। काश उन्हें कोई बता दे कि मैंने अन्तिम समय उनको बहुत याद किया—सभी को याद किया—एण्ड आई मिसड दैम वेरी बैडली।

नहीं नहीं।...मैं उनसे बिछड़ूंगा नहीं। मैं उनके पास रहूँगा...उनके दिलों में...

क्योंकि... ।

टु लिव इन हार्टज़,

वी लिव बिहाईंड...

इज़ नाट टु डाई।

—रेडियो काश्मीर, जम्मू



कविता

रजनीगंधा तुम !

—विनय

कभी कभी अंधेरे में
डूबती आंखों के आसपास
एक सूरज का उगना
और चेहरे की प्यासी उदासी का
किसी चटख रंग के साथ...
खेलने का मन हो आना
ऐसा ही लगता है—
जैसे बड़े-बड़े तनों को—
उखाड़ते हुए तूफान का
एक छोटे से पौधे को
चूम कर
निकल जाना !
कब कौन किसके लिए तूफान बनता है
मुझे याद नहीं रहता
पर खुद का हर बार
एक छोटे से पौधे में
असफल रूपांतरण
मैंने कई बार सहा है ।
हठ की इस हद तक
कि अपने को पूरी तरह सुखा कर
छोटा सा तना बना लूं......
लेकिन उंगलियों पर उग आये
फूलों का क्या करूं
जो अग्निशिखा तो बन सकते हैं
लेकिन किसी भी अंगारे पर
झुलसे जाने से इंकार कर देते हैं ।
तुम हां, हां, तुम्हीं ।
प्रकृति के रहस्यों का अभिलेख
द्वन्द्व का निरन्तर संवाद
किसी अंकुश में सहमी हुई
आज़ाद आवाज़ की ध्वनि...
और तेजी से उभरता
उसका सार्थक अर्थ !
मेरे बगीचे में
रजनीगंधा का कोई फूल नहीं है
लेकिन जब-जब भी
उदास सड़कों पर घूमते हुए
धूप के टुकड़ों से छन कर
तुम मुझे मिलती रही हो !
मुझे उसका अभाव नहीं रहता।
कभी-कभी हवा की तरंगों पर
तुम से बातें करना
भरे हुए पानी के गिलास में
गुलाब जल छिड़क
सुगंध बिखेरना हो जाता है।
और कभी
चिलचिलाती धूप में
अपनी पीठ पर से बोझा उतार कर
किसी मंदिर के पार्श्व में बनी
प्याऊ से पानी पीकर
सांस लेना।
सचमुच बहुत मुश्किल है
इतने बड़े आकाश में
धूप और बादल के लिये
अलग अलग जगह बना देना।
जब कि मैं जानता हूं
तुम रजनीगंधा हो
पर मैं वह पौधा नहीं
जिसे कोई भी तूफान
चूमकर......
निकल जाए !

—२५, बैंग्लो रोड, दिल्ली—७

लेख

मणि मधुकर के उपन्यास

—दुर्गा प्रसाद अग्रवाल

राजस्थान की सुदीर्घ कथा परम्परा में ऐसे नाम बहुत कम हैं जो प्रांत के बाहर भी अपनी पहचान स्थापित कर पाये हों। आज़ादी के बाद जो नाम बड़े अक्षरों में उभर पाये उनमें रांगेय राघव, पानू खोलिया, हेतु भारद्वाज, आलमशाह खान, अशोक शुक्ल, रमेश उपाध्याय, स्वयं प्रकाश और मणि मधुकर प्रमुख हैं। इनमें से कुछ ने केवल कहानियां लिखी हैं, कुछ के उपन्यास अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं और कुछ ने सभी विधाओं पर कलम चलाई है। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार, सम्पादक, रंग-कर्मी, लघु फिल्म निर्माता आदि-आदि मणि मधुकर आज़ादी के बाद प्रांत के महत्वपूर्ण रचनाकारों में से एक हैं। राजस्थान में जन्मे (९ सितम्बर १९४२) मणि मधुकर आजकल दिल्ली में रह कर स्वतन्त्र लेखन कर रहे हैं पर उनके औपन्यासिक सृजन का केन्द्र राजस्थान ही रहा है। चार में से तीन उपन्यासों का घटना केन्द्र राजस्थान का मरू अंचल है।

अब तो मणि मधुकर साहित्यिक हलचलों के केन्द्र दिल्ली में रहते ही हैं पर वे चर्चित-स्थापित प्रतिष्ठित इससे पूर्व ही हो चुके हैं अतः उनकी रचना सामर्थ्य असंदिग्ध है। यह बात कहना इसलिए आवश्यक लगता है कि राजस्थान का उत्कृष्ट लेखन भी साहित्यिक राजनीति का शिकार बनाया जा कर गुमनामी के अंधेरों में धीरे-धीरे मर जाने को विवश किया जाता रहा हैं, हिन्दी जगत् की इस उपेक्षा के बावजूद जो उभर सका उसकी प्राणशक्ति निश्चय ही दुरन्त मानी जानी चाहिये। मणि मधुकर को मैं इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण मानता हूं।

अब तक उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—सफेद मेमने, पत्तों की बिरादरी, पिंजरे में पन्ना, और मेरी स्त्रियां। प्रथम दो पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं, शेष दो अभी पत्रिकाओं में ही हैं। 'सफेद मेमने' के दो सजिल्द तथा एक पाकेट बुक संस्करण निकल चुके हैं और इसे 'प्रेम चन्द पुरस्कार' भी मिल चुका है।

सफेद मेमने

अपने प्रथम उपन्यास 'सफेद मेमने' (१९७१) में मणि मधुकर ने बाड़मेर के नेगिया

गांव के कुछ लोगों—अधेड़ पोस्टमास्टर राम-औतार, उसकी युवा पत्नी बन्ना, जस्सू, रक्खे, पशु चिकित्सक भानमल, सन्दो, सुरजा, भीमा, रणासी, जंतरी आदि की कथा कही है। लेखक के शब्दों में—'अक्सर मुझे लगता है कि रेवड़ की तमाम भेड़ों को छोड़ कर अचानक कुछ सफेद मेमने आगे निकल आये हैं, वे अपने मामूली दमखम के बूते पर भाग रहे हैं। लड़खड़ा कर गिर रहे हैं, लहुलुहान हो रहे हैं, फिर उठ कर हांफ रहे हैं और उसी तरह दौड़ रहे हैं। एक डर उनके भीतर है, एक डर उनके बाहर है, एक अनदेखे कसाई का अदृश्य छुरा उनका पीछा कर रहा है। वे बचना चाहते हैं, इसलिए उस सांस तोड़ भागा-भागी के सिवा कोई चारा नहीं है, यह उन भगोड़ों की कथा है—और इसे एक भगोड़े ने—जो रेत और दूसरी दुनिया के बीच, सूखी—निचाट हवा में टगा हुआ है, उदासी में लिखा है। (पृ० १४३)

'सफेद मेमने' एक वचन नहीं, बहु वचन की कथा है। उपन्यास के पात्र अपने परिवेश को क्रूर, शोषक, उत्पीड़क मान पलायन को मजबूर होते हैं। पोस्टमास्टर नौकरी छोड़ कौसानी लौट जाता है, डाक लाने वाला जस्सू नक्सलवादियों के साथ चला जाता है, सुरजा डकैत बन जाता है, बन्नो और सन्दो पाकिस्तान चले जाते हैं.........

लेखक ने परिवेश की जड़ता को तोड़ने के लिये सेक्स का प्रयोग किया है। सातवें दशक की यह प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति रही और १९७१ में प्रकाशित 'सफेद मेमने' पर इस प्रवृत्ति की गहरी छाप हमें अप्रीतिकर भले ही लगे, अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। अधेड़ पति राम-औतार से असंतुष्ट, युवा बन्ना देह की भूख सन्दो से मिटाती है, जस्सू पर सुरज़ा का नशा है और पशु डाक्टर भानमल 'नस चढ़ी भैंस' के साथ संभोग करता है। बकौल इन्द्रनाथ मदान, 'इस उपन्यास में संभोग कभी खुले टीले पर है तो कभी झोंपड़ी में है। 'मरी हुई औरत से संभोग' (एक कविता—शीर्षक) वाले दौर में यौन-केन्द्रित रचनाओं की भीड़ में एक रचना 'सफेद मेमने' भी है, बल्कि उघड़ी आंचलिक अभिधाओं और भैंस प्रकरण के कारण इस अर्थ में शीर्षस्थ है। यहीं से मणि राजस्थान के रेगिस्तानी जीवन का व्यावसायिक, साहित्यिक शोषण करने की शुरुआत करते भी दिखाई देते हैं। उनके पात्रों की रोटी से ज्यादा भूख सेक्स की है। यह राजस्थान का नहीं मणि की कल्पना का रेगिस्तान है जो उनके बाद के उपन्यासों में भी बार-बार उभरता है।

'सफेद मेमने' से प्रशंसनीय औपन्यासिक संरचना, काव्यात्मक भाषा और अब तक अपरिचित रहे रेगिस्तानी जीवन को सामने लाने वाले कथाकार के रूप में मणि अपनी पहचान बनाने लगते हैं। 'सफेद मेमने' में तत्कालीन समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियां—अकेलापन, संत्रास, ऊब, निरर्थकता बोध, आंचलिकता, सेक्स आदि—एक साथ मिल जाती हैं। आंचलिक 'रेणु' के पास तथाकथित आधुनिक मुहावरा नहीं था, मणि ने रेगिस्तान का आधुनिकीकरण भी कर दिया। शायद बाज़ार को यही रास आता है।

पत्तों की बिरादरी

अपने दूसरे उपन्यास 'पत्तों की बिरादरी' (१९७९) में भी मणि ने कथा का केन्द्र

रेगिस्तान वासियों को ही बनाया है। उपन्यास का शीर्षक चारण कवि अज्जैदान से लिया गया है— 'दरख्त एक ढाणी है, एक गांव है और पत्ते उसके बाशिन्दे होते हैं। साथ बोलते हुए, एक-सा जीवन जीते हुए...वे एक ही बिरादरी के अनेक लोग। लेकिन ऋतुओं की मार से जब पेड़ उजड़ने लगता है तो पत्ते सूख-सूखकर गिरने और बिखरने लगते हैं। अपने गांव को छोड़कर, दुख दैन्य के बोझ को ढोते हुए वे पत्ते...जाने कहां-कहां तक रेलों में बहते-उड़ते चले जाते हैं. यही है पत्तों की अपनी बिरादरी।' (पृ० २५) यहां रचनाकार ने उपन्यास के साथ-साथ अपना वक्तव्य देना भी जरूरी समझा है। वह लिखता है, 'प्रिय, पाठक आपका और मेरा 'देश' ऐसी कितनी ही अंधेरी आबादियों से भरा पड़ा है, जिनमें लोग एक गैर मुल्की जिन्दगी जीने के अपमान भरे अहसास के साथ स्वयं को ढो रहे हैं। 'पत्तों की बिरादरी' का जन्म इसी तीखे अहसास से हुआ। और, फिर धीरे-धीरे मैंने पाया कि मेरे बाहर-भीतर का रेगिस्तान फैल रहा है...इस उपन्यास की दुनिया निरन्तर दुःख झेलने, जूझने और अपनी जड़ों का हक हासिल करने वाले मनुष्य की वह बड़ी दुनिया है, जिसका 'बटवारा' नहीं हो सकता है। जो कहीं भी अधूरी नहीं है और यह अपने में सहेजकर रखा हुआ पूरापन ही उसके अविचलित आत्मनाद का मूल स्रोत है। (चतुर्थ आवरण पृष्ठ)।

बाड़मेर क्षेत्र के अकाल सहायता कैम्पों में आ जुटे असहाय पत्तों की इस करुण कथा को इसलिए रचा गया है कि शोषकों—सरकारी अफसरों, राजनेताओं, सेठ साहूकारों और तथाकथित समाज सेवकों के भ्रष्ट आचरण के प्रति सहज-स्वाभाविक आक्रोश मन में उभर सके। सहायता कैम्पों में जारी शोषण, भ्रष्टाचार और पीड़न की कथा बदरू मियां, ज्यानकी, सुवटी, फुलकी, बाशिया और शुबो आदि के माध्यम से कही गई है। शोषक हैं वे ही जो कैम्प चलाकर 'समाज सेवा' कर रहे हैं— यानि पुसपाबाई, इग्यारसी लाल और रावता। इन्हें सहारा है राजनेताओं का और इनका सम्बन्ध है हग्लो डाकू से। तस्करी भी करते हैं ये, सहायता का अन्न भी बेचते हैं ये। वेश्या की महत्वाकांक्षी पुत्री पुसपाबाई राजनेताओं को खुश कर 'अम्पी', 'एम्मेले' बनने का ख्वाब देखती है। शोषितों का नेतृत्व करता है शुबो जो पाकिस्तान से भागकर इस कैम्प में आया है। जुझारू शुबो का जन्म उस निर्मम पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया में है जो श्रम के शोषण पर आधारित है और जिसे भूखे के हाथ से बासी रोटी का टुकड़ा तक झपट लेने में कोई हिचक नहीं है। शुबो इस क्रूर दुनिया की रंगत बदलने के लिये अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करता। उसका मरना एक अन्त नहीं, एक शुरूआत होता है।

उपन्यास में कैम्प के भ्रष्टाचार के अतिरिक्त मणि का प्रिय विषय नारी देह तो है ही, शोषण के चित्रण के बहाने सुवटी द्वारा इग्यारसी लाल की वासनापूर्ति और कैम्प पर राज करने के लिये पुसपाबाई की देह का व्यापार भी चित्रित हुआ है। मणि ने यहां देश के विभाजन का मसला भी उठाया है और भारत पाक युद्ध की ओर भी इंगित किया है। पर मूल कथा दुर्भिक्ष पीड़ितों की है, जिनकी त्रासदी को गहराते हैं अवसरवादी भ्रष्टाचारी।

पिंजरे में पन्ना

साप्ताहिक हिन्दुस्तान में ७ जून १९८१ से ९ अगस्त १९८१ तक धारावाहिक १० किश्तों में प्रकाशित इस उपन्यास की कथाभूमि भी राजस्थान का रेगिस्तान ही है। रम्या गांगुली अपने पालक, लोकधर्मी नाट्य कला-अध्येता शमीक बाबू से अपनी मां—पन्ना नटी का आंशिक इतिहास जान, टूटी-छूटी कड़ियां मिलाने राजस्थान की बरांस ढाणी आती है। सुरध्यानी ख्याल पर शोध करते हुए राजस्थान में भटकते हुए अविवाहित शमीक बाबू को एक-डेढ़ बरस की रम्या का दायित्व सम्भालना पड़ गया था। बरांस ढाणी पहुँच कर रम्या शमीक बाबू के परिचित चेतराव के यहां ठहरी। पर यह उसकी मन्जिल नहीं थी, उसे सुरध्यानी ख्याल मण्डली तक पहुंचना था, जहां उसकी मां नटी थी। इस कठिन यात्रा के लिए उसने गाड़िया लुहारों के साथ स्वयं को एकाकार करने का पूर्ण तथा सफल प्रयत्न किया। गाड़िया लुहारन बुज्जी, चेतराव की पत्नी नथली, बुज्जी की बेटी दीवी आदि से उसका गहरा, आत्मीय रिश्ता कायम हो गया। हर फैल में कुख्यात, दीवी का आत्मीय नन्दे भी उसकी ज़िन्दगी में आया पर वह उससे नफरत ही करती रही। धीरे-धीरे, परत दर परत नन्दे के चरित्र के उजले आयाम उसके सामने उभरे! नन्दे ने ही मधुमक्खियों के हमले के बाद उसे हरजी वैद्य के घर भी पहुँचाया। नन्दे ने उससे दो वादे भी किये—उस स्थान पर ले जाने का जहां पन्ना ने हवेली बनवाई थी, और उसके असली बाप से मिलवाने का। नन्दे ने अपने ये दोनों वादे पूरे किये। इसी बीच रम्या को नन्दे का असली परिचय भी मिला।

नन्दे वस्तुतः एक प्रख्यात चित्रकार आनन्द सोनटके है, जैसलमेर-बाड़मेर-बीकानेर के रेतीले राग को अपनी कूची के रंगों में सहेजने में रत, और साथ-साथ अपनी जड़ों की खोज में व्यस्त। इस दुनिया से आनन्द का रिश्ता एक अवैध बच्चे के रूप में जुड़ा, और इधर बरसों से वह एक गाड़िया लुहार के रूप में रह रहा है, खानाबदोशी को पूरी तरह स्वीकार कर चुका है। अपनी जड़ों की खोज में ही व्यस्त है रम्या भी। वह भी कलकत्ता छोड़ कर इसीलिये राजस्थान आई है। इन दो प्रमुख पात्रों द्वारा की जा रही अपनी-अपनी जड़ों की खोज अनायास ही हमारा ध्यान एलेक्स हेली की चर्चित पुस्तक 'रूट्स' (जड़ें) की ओर खींच ले जाती है। १९६२ में एलेक्स हेली भी अपनी जड़ों (वंश परम्परा) की खोज में निकला था। सात पीढ़ियों के पार देखने के लिए उसने तीन महाद्वीपों की खाक छानी, ५० महापुस्तकालयों, लेखागारों और अनुसंधानशालाओं को टटोला और तब कहीं, १० वर्षों के सतत परिश्रम से हुई 'रूट्स' की रचना। 'पिंजरे में पन्ना' उपन्यास है, लेखक की अपनी खोज यात्रा नहीं, अतः उसकी 'रूट्स' से तुलना आवश्यक तो नहीं किन्तु अनुचित भी नहीं है क्योंकि दोनों का आधार फलक एक-सा है।

'पिंजरे में पन्ना' में मणि की चुस्त भाषा, अभिनव अंदाज़े-बयां, भरपूर किस्सा गोई, रोचक रोमांचक कथा मोड़ और व्यावसायिक सफलता की ओर ले जाने वाले सारे मसाले पर्याप्त मात्रा में हैं। ये सब, और विशेषतः अन्तिम, 'पिंजरे में पन्ना' को एक गम्भीर रचना

नहीं रहने देते। इसी कारण, मेरी दृष्टि में यह रचना 'रूट्स' के सामने कहीं ठहरती ही नहीं है। रचनाकार ने रम्या की जड़ों की खोज को ज्यादा अहमियत नहीं दी है। नन्दे का तो खैर इस तरह का ज़िक्र ही अन्तिम किश्त के मध्य में आया है, शायद एक रोचक, झटकेदार, सनसनी खेज़ कथा मोड़ के लिए। रम्या अपनी मां पन्ना के बारे में जानने की उत्सुकता लिये रेगिस्तान की रेत फांकती है, अजीबोगरीब लोगों के सम्पर्क में आती है, पर पूरे उपन्यास की अन्तिम तीन किश्तों में ही और विशेषत: अन्तिम किश्त में ही लेखक ने पन्ना की चर्चा की है। इस प्रकार कथा असंतुलित हो जाती है। अन्त में ही यह पता चलता है, कि चेतराव ही रम्या का असली पिता है—पन्ना का जाट प्रेमी ! वहीं यह चर्चा भी है कि पन्ना की हवेली में ठाकुर रिछपाल और उसके लोगों ने आग लगा दी थी। आग लगाने वाले आज ढाणियों के पंच, पटेल और मुखिया बने हुए हैं। जिन लोगों ने आग बुझाने की कोशिश की, उनके हाथ पैर तोड़ दिए गए, कान काट लिए गए। रिछपाल के बहाने समकालीन भ्रष्ट राजनीति को भी बेनकाब किया गया है। रिछपाल को पैसों और शराब से वोट खरीदता बताया गया है। अपनी कथा को बहुत सारी दिशाओं में मोड़ कर एक तो रचनाकार ने उसकी गम्भीरता को कम किया है और दूसरे एक महत्वपूर्ण मुद्दे—अपनी जड़ों की खोज को बड़े चलताऊ ढंग मे निपटाया है। यदि वह अन्य बातों पर कम ज़ोर देकर केवल इसी मुद्दे पर कथा को केन्द्रित करता तो 'पिंजरे में पन्ना' एक सार्थक रचना बन पाती।

फिर, यहां भी मणि रेगिस्तानी यथार्थ के नाम पर रेगिस्तान की चटपटी इमेज देने वाला सेक्स का प्रयोग करने से बाज़ नहीं आये हैं। दीवी के लेपा (उबटन) लगाने के प्रसंग में दीवी के एकालाप में तथा सैन्ना सम्वादों में 'कथा की मांग' के बहाने से नग्न चित्रण करने का अवसर जुटा लिया गया है। उपन्यास की एक और कमज़ोरी झूमर-संदीप प्रसंग है जो अनावश्यक रूप से एक अध्याय में उभर कर वहीं दब जाता है। पूरी कथा से उसकी कोई संगति नहीं बैठ पाती।

मेरी स्त्रियां

पाक्षिक 'सारिका' (१६ जून १९८१) में प्रकाशित इस उपन्यास में मणि मधुकर राजस्थान के रेगिस्तानी अंचल से दूर हटे हैं। लेखक, जो उपन्यास का नरेटर भी है, के जीवन में ६ स्त्रियां आती हैं पर एक दिन, हैदराबाद के तैलंगी औरतों के बाड़े में औरतों की भीषण दुरवस्था देखकर और पेट की आग से त्रस्त अधेड़ औरत का बेशर्म समर्पण—'मुझे ले चलो, देखो मैं जवान हूं, मैंने चार रोज़ से कुछ नहीं खाया, मैं तुम्हें खुश रखूंगी, जरा इधर हाथ लगाओ, कैसी फुल्ली-फुल्ली हैं मेरी छातियां —' सुनकर उसकी प्रतिक्रिया होती है—'ये हैं मेरी स्त्रियां...इस दशा में। और मैं कहीं और ढूंढ रहा था...उसकी मुठ्ठियां बंध गईं।'

लेखक के जीवन में आनेवाली छः स्त्रियां हैं— मकान मालिक मीरचन्द की औरत

गुनवंती, ऐयाश जीनत, अध्यापिका अन्ना, अन्ना के बेटे चीनू की मित्र नीरा, दीवान बुक कार्नर की सेल्स गर्ल नीलम्मा, जिसका एक और व्यक्तित्व भी है, और एक अछूत—जमना।

उपन्यास का उत्तरार्द्ध और महत्वपूर्ण अंश नीलम्मा पर केन्द्रित है। वस्तुतः गुनवंती, जीनत, अन्ना, नीरा और जमना की सार्थकता इतनी ही है कि वे उपन्यास के बहुवचनात्मक शीर्षक को पुष्ट करती हैं। यह भी माना जा सकता है कि निरर्थक ज़िन्दगी जीने वाली ये स्त्रियां नीलम्मा की सार्थक ज़िन्दगी को उभारती हैं। जमना के प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह आती है कि उस अछूत (मादिगा जात) की बेटी पढ़ लिखकर, आरक्षण का सहारा पा आई० ए० एस० हो जाती है और फिर वह मां का ज़िक्र तक नापसन्द करने लग जाती है। बकौल लेखक—'वह उस वर्ग में भर्ती हो गई है जिसके पास सिर्फ नीचता और सड़ांध है।' (पृ० ६५)

नीलम्मा के लिये लेखक की टिप्पणी है—'कहीं कोई ऐसी स्त्री है, जो बहुत सुन्दर है—एक अद्भुत सौंदर्य, साहस का...समझ का और अब, मैं तुम्हें देख रहा हूं! पहले मैं सिर्फ सोचा करता था और आह भरता था। किन्तु आज...मेरा आश्चर्य ही सबसे अधिक विश्वसनीय है।' (पृ० ६५) नीलम्मा एक क्रांतिकारी लड़की है जो हैदराबाद के शोषकों से लोहा ले रही है। उसके जीवन साथी (विवाहित पति नहीं) पर नक्सली होने का इल्ज़ाम लगाया गया था, यह सूचना देकर लेखक ने अप्रत्यक्षतः नीलम्मा की विचारधारा की ओर इंगित किया है। बुक कार्नर के मालिक से वह यह कहलवाना भी नहीं भूला है—'अपनी विचारधारा के लिये उसने कष्ट झेले हैं। कोई उससे असहमत हो सकता है, किन्तु उसकी समर्पण भावना और निष्ठा देखकर श्रद्धा पैदा होती है।' (पृ० ५३) कहीं यह असहमति स्वयं लेखक की ही तो नहीं है? पर वह नीलम्मा से जुड़ता है, उसके साथ उन ठिकानों पर भी जाता है जहां उसके हम-विचार लोग काम कर रहे हैं। 'लेखक ने पाया कि तमाम दबे-कुचले लोगों के पास वह अभिमान एक अकूत खजाने की तरह था। प्रायः बाहर उसकी दीप्ति नज़र नहीं आती थी, क्योंकि उन्होंने उसे अपने अन्तर्कक्ष में संभालकर रख छोड़ा था।' (पृ० ६१)। लेकिन नीलम्मा की विचारधारा और उसके प्रयत्नों को लेखक ने बड़े चलताऊ ढंग से निपटाया है। या तो उसकी दृष्टि क्रांति के रूमानीपन को भेदकर तह तक नहीं पहुंच पाती है या उसे भय रहता है कि उपन्यास मनोरंजक न रहकर बोझिल हो जायेगा और या सामाजिक—राजनैतिक परिवर्तन जैसी किसी चीज़ में उसकी आस्था नहीं है; क्रांति उसके लिये महज़ बाक्स आफिस का एक फार्मूला है। नीलम्मा की क्रांति को उसने भले ही गंभीरता से चित्रित न किया हो अपनी स्त्रियों के यौन जीवन का चित्रण करने में उसने कंजूसी नहीं बरती है। यौन एक ऐसा क्षेत्र है जहां मणि की कलम ज़रा ज्यादा ही खुल कर चलने लगती है। यहां तो उसने नीरा के संवादों (पृ० ३५) में यौन-क्रांति जैसे चालू मुहावरे को भी खींच लिया है। लेकिन गंभीरता से न नीरा की यौन-क्रांति को लिया गया है न नीलम्मा की सामाजिक-राजनैतिक क्रांति को।

वस्तुतः यही वह एक बात है जो मुझे मणि के लेखन से सर्वाधिक असंतुष्ट करती है। वे परिवर्तन के लिये क्रांति का परचम उठाते प्रतीत तो होते हैं पर उसमें उनकी अपनी आस्था कहीं नहीं झलकती। इस प्रकार परिवर्तन कामिता भी उनकी जीवन दृष्टि न रहकर सफल लेखन का एक तत्व मात्र बन कर रह जाती है। उनके चारों उपन्यासों में यह परिवर्तन कामिता समान हल्के फुल्के ढंग से मौजूद है। 'सफेद मेमने' का जस्सू नक्सलवादियों के साथ चला जाता है, 'पत्तों की बिरादरी' का शुबो शोषण का प्रतिकार करता है, 'पिंजरे में पन्ना' में समकालीन भ्रष्ट राजनीति के प्रतीक रिछपाल का विरोध है और 'मेरी स्त्रियां' में नीलम्मा क्रांतिकारिणी है। इनमें से एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिसे लेखक ने अपेक्षित विस्तार और निजी सहानुभूति प्रदान की हो। लेखक ने सर्वत्र क्रांति या परिवर्त्तनाकांक्षा को यौन के बरक्स रखा है। यों भी, मणि के पात्रों की इसमें विशेष रुचि है। 'जिनावर रसाव' भानमल तो भैंस से सम्भोग कर हिन्दी का अपनी तरह का अकेला चरित्र होने का गौरव प्राप्त करता ही है, बन्ना, सुरजा, सुवटी, पुनपाबाई, दीवी, नीरा, गुणवन्ती—सभी के जीवन के इस पक्ष पर लेखक ने तेज़ प्रकाश डाला है। मणि की अधिकतर स्त्रियां एक ही भाषा बोलती हैं। 'सफ़ेद मेमने' की सुरजा हो—'मैं जाट की जाई हूँ समझे...मुझमें सामरत्थ है, दस मरद एक छट झेल सकती हूं... तुम भी नसें ढीली करने आये थे ? करना चाहो तो कर लो। मुझे कोई ज़ोर नहीं आयेगा,' (पृ० ५५) या 'मेरी स्त्रियां' की नीरा—'मैं अपने को भ्रष्ट कर डालूंगी। मैं अपनी देह को फाड़कर चिन्दी-चिन्दी कर दूंगी। तब माई फादर...एण्ड वुड बी हसबैंड, मुझे देखेंगे और सिर पीट लेंगे। (पृ० ३५) किसी पाठक के लिये अपने लेखक से शिकायत का मुद्दा यह नहीं होना चाहिये कि उसने अपनी किसी रचना में क्रांति को गैर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से क्यों चित्रित किया है या सेक्स में ज्यादा रुचि क्यों ली है ? पर यदि लेखक की सभी रचनाओं में ऐसा हो तो बात अलहदा हो जाती है। मणि के उपर्युक्त चारों उपन्यासों का ट्रेण्ड बिलकुल एक है और इसी से उनकी विचार-धारा (अगर उसे यह नाम देना अनुचित न हो) हमारी पकड़ में आ जाती है। उनके लिये क्रांति और यौन क्रांति एकदम एकार्थक हैं। उनका अपना पक्ष इनमें से कोई भी नहीं है। एक कुशल – सफल व्यवसायी की भांति उन्होंने अपनी दुकान में हर बिकने वाली चीज़ सजाई है। क्रांति की बात थोड़ी देर के लिये छोड़ भी दें तो यह बात पर्याप्त विवादास्पद है कि रेगिस्तान का जीवन ठीक वैसा ही है जैसा मणि ने चित्रित किया है ? यह बात इसलिये भी उठानी अवाश्यक है कि उनके चार में से तीन उपन्यासों का घटनास्थल राजस्थान का रेगिस्तान है। अम्मल, दारू, ऊंट, घाघरा और रूख उनके तीनों रेगिस्तानों में हैं, होने ही चाहिये थे। लेकिन रेगिस्तान की स्त्रियां, शहरी यौन-नैतिकता-शुचिता से अछूती होने के बावजूद, इतनी 'उदार' भी नहीं हैं जितनी मणि ने उन्हें बताया है। यों भी मणि की रेगिस्तानी और गैर रेगिस्तानी स्त्रियां एक ही सांचे में ढली लगती हैं। मणि को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने रेगिस्तान को अपने उपन्यासों का केन्द्र बनाया। यह न कहना भी उनके प्रति अन्याय होगा कि उन्होंने एक लगभग अछूती कथा—भूमि चुनी है, इसी

पृष्ठभूमि पर रचित यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' के उपन्यास कलात्मकता की दृष्टि से मणि से पीछे हैं। लेकिन इसी क्रम में यह कहना भी आवश्यक है कि अपनी कलात्मक अपरिपक्वता के बावजूद मोहर सिंह यादव का 'बंजर धरती' लेखकीय ईमानदारी की दृष्टि से मणि के तीनों उपन्यासों पर भारी पड़ता है। मणि का प्रयास रेगिस्तान की प्रामाणिक तस्वीर उकेरने की बजाय एक बिकाऊ तस्वीर उकेरने का रहा है। यही बात क्रांति के बारे में भी। अगर वे इसका गंभीरता से विरोध भी करते तो मुझे आपत्ति नहीं होती, लेकिन मणि मधुकर भी जब क्रांति को लेकर मनोज कुमार बन जाते हैं तो मुझे अच्छा नहीं लगता।

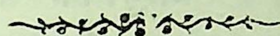
मणि मधुकर के उपन्यासों की एक और रूढ़ि है—कविता। चारों उपन्यासों में कविताओं के पर्याप्त उद्धरण हैं। बतर्ज 'नदी के द्वीप', 'सफेद मेमने' में गोगाजी की काव्य कथा, 'पत्तों की बिरादरी' में चारण कवि अज्जैदान का काव्य, 'पिंजरे में पन्ना' में मायकोवस्की आदि और 'मेरी स्त्रियां' में सुकान्त भट्टाचार्य। मणि स्वयं कवि हैं और उनकी औपन्यासिक भाषा में भी काव्यात्मक हस्तक्षेप कम नहीं है, अतः ये कविताएं उपन्यास की संरचना पर आरोपित और भारी पड़ती लगती हैं। 'पत्तों की बिरादरी' में अज्जैदान तो जैसे तैसे खप जाता है पर अन्यत्र सभी कवि अनावश्यक घुसपैठ करते लगते हैं।

इस अनावश्यक काव्यात्मक हस्तक्षेप के बावजूद, मणि के उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति उनकी भाषा ही है, सजीव, धारदार और दिल में गहरे उतरती-सी भाषा। सच तो यह है कि मणि की भाषा कुछ इस तरह अपने पाठक को हिप्नोटाइज़ कर लेती है कि दूसरी बातों पर ध्यान जा ही नहीं पाता है। मणि प्रमुखतः आंचलिक कथाकार हैं और अपने आंचल की शब्दावली पर उनका पूरा-पूरा अधिकार है। ठेठ आंचलिक शब्द वे किसी कुशल सुनार की मानिन्द अपने चमकदार गद्य के बीच जड़ते चलते हैं। 'सफेद मेमने' में 'शब्दों का गोरबन्द बुनने लगा' ऐसा ही एक मोहक प्रयोग है। अपने पात्रों की भाषा को ज्यों का त्यों पकड़ने के मामले में वे रेणु से आगे निकलते हुए अमृत लाल नागर के समकक्ष ठहरते हैं। लेखकीय वर्णनों में वे अपने कवि होने का पूरा-पूरा फायदा उठाते हुए हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समकालीन गद्य की बानगियों पर बानगियां जुटाते चलते हैं। 'पत्तों की बिरादरी' की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं –'तम्बुओं के तिरपाल फड़फड़ाती हुई हवा बेचैनी से घुमेरी लगा रही थी। उसके संग-संग रेत। अंधेरे और सुन्न-गुन्न सन्नाटे में जैसे कोई सड़-सड़ाक सोटियां बरसा रहा हो, ऐसी आवाज़। आड़े-तिरछे टीबों और बिरछों में उलझी हुई रात की रहस्यमयी आकृतियां उस आवाज़ से अस्त-व्यस्त हो उठती थीं।' (पृ० ६) या 'मेरी स्त्रियां' की ये अंतिम पंक्तियां—'नीलम्मा उसके सामने बैठी थी। सौंदर्य के ज़ख्मों को समेटे हुए। धीरे-धीरे वे ज़ख्म एक मानचित्र में तबदील होने लगे। वह मानचित्र एक बहुत बड़े देस-जहान का था। और, उस देस-जहान का नाम वेंकटय्या था।' (पृ० ६६)

मणि की भाषिक सामर्थ्य के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर असल बात यह है कि एक बेहद जीवन्त, समर्थ भाषा का धनी, जागरूक, संवेदनशील, समर्थ रचनाकार

अपने इन औज़ारों का कोई अर्थपूर्ण उपयोग अब तक नहीं कर पाया है। वह बजाय पक्षधर होने के, संतुलन बनाये रखने के निरर्थक कार्य में अपनी शक्ति खपा रहा है। मणि के अब तक के उपन्यास व्यावसायिक और साहित्यिक, निरर्थक और सार्थक के बीच स्थित हैं। सफलता का स्वाद चख लेने के बाद, अब अगर वे अपनी कलम से कोई सार्थक कृति रचें तो मुझ जैसे अनेक पाठकों को प्रसन्नता होगी।

—स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, सिरोही—३०७००१



लेख

आधुनिक साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता और मानवतावाद

—डा० राममूर्ति त्रिपाठी

'आधुनिक' होने या कहे जाने के लिए किसी दृष्टि का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। 'दृष्टि' से मुख्य तात्पर्य "पदार्थवादी" या 'अध्यात्मवादी' सोद्देश्य जीवन दर्शन से है। आधुनिक होने का लक्षण केवल आस्थाहीन तार्किकता है। ऐसी तार्किकता जो अपने को कहीं भी बांधना पसन्द नहीं करती—मुझे स्वीकार्य नहीं—भारतीय चिंतन में ऐसे लोगों को 'वैतण्डिक' कहा गया है—जिनका अपना कोई पक्ष ही नहीं होता। कुछ लोग 'आधुनिकता' की पहचान इस विशेषता में कराते हैं कि प्रत्येक पूर्ववर्ती स्थापना अपनी समग्रता में त्याज्य है—चिंतन को कहीं भी बन्धना नहीं चाहिये। पर, सत्य तो यह है कि वे भी बन्धे हैं—कम से कम इस धारणा से कि 'आधुनिक' को कहीं बन्धना नहीं चाहिये। ऐसी तार्किकता महज चिंतन के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से चल जाए तो चल जाए—व्यवहार, जीवन और समाज में नहीं चल सकती। अतः ऐसा विवेक या तार्किकता 'आधुनिकता' का घटक है जो सोद्देश्य मानव जीवन में और समाज में अपनी रचनात्मक चरितार्थता रखती हो। निष्कर्ष यह कि रचनात्मक चरितार्थता से मुक्त विवेक-दृष्टि या दृष्टिकोण के नामान्तर को 'आधुनिकता' कहा जाए—तो असंगत न होगा।

परम्परा में जीवन और समाज को गति देने वाले जीवंत तत्व और जीवंत सम्भावनाएं भी होती हैं और निर्जीव चीजें भी। परम्परागत जीवंत तत्व और जीवंत सम्भावनाओं के प्रति आस्था भी 'आधुनिकता' की घटक है। कारण, रचनात्मकता आस्था के बिना आ नहीं सकती। इस प्रकार 'परम्परा' के प्रति भी सजगता परिभाषिय का एक घटक ही है। इसके विपरीत डा० विपिन कुमार अग्रवाल का मत है—'आधुनिक के माने होगा जो परम्परागत नहीं है। जिस को समझने के लिए और जिस का रसास्वादन करने के लिए पुरानी कविताओं या संग्रहालय के चित्रों का जानना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिये अनुभव

से कहा जाता है कि अमूर्त चित्रों को समझने के लिए पदार्थ कला की उपलब्धियों से परिचित होना न केवल आवश्यक है, बल्कि हानिकारक भी है।[1]

डा० अग्रवाल की धारणा है कि 'आधुनिक' के बारे में हम जिज्ञासु रहते ही हैं, आधुनिकता के उन पक्षों से हम अधिक आसानी से आगाह हो जाते हैं जो पुराने दौरों से मेल खाते हैं और वे पक्ष, जो उसके नये-पन के द्योतक हैं—पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। उनके अनुसार ऐतिहासिक या पारंपरिक संदर्भ में जब हम किसी नवनिर्मित वस्तु का अध्ययन करते हैं तब चूंकि प्रत्येक नवनिर्मिति में अधिकांश पूर्व निर्माण शेयर करता है और बहुत स्वल्प नया—फलतः स्वल्प होने के कारण नयापन प्रायः उपेक्षित हो जाता है, जो नवनिर्मिति का सब कुछ होता है, फलतः कलाकार मारा जाता है। इन सब के बावजूद भी श्री अग्रवाल मानते हैं[2] कि इतिहास और परम्परा को इसलिए जानना ही नहीं चाहिये या कि कलाकार ने कुछ जाना नहीं कि वह बिगड़ा। इतिहास आवश्यक है, क्योंकि अनिवार्यतः उसी के अंश लेकर हम नये को गढ़ते हैं। पर इससे अधिक इसका महत्व नहीं है। वह पूरी तस्वीर नहीं है। आधुनिकता का एक पहलू वह है जो वह बीते हुए से शेयर करता है और दूसरा वह जो उसकी अपनी देन है—उसका अपना विशेष गुण है, क्योंकि यही वह है जो नई दिशाएं खोल सकता है। यह उस एक डिग्री तापमान के बराबर है जो ९९ को १०० तक पहुंचाता है और पानी में उबाल पैदा करता है। इस प्रकार वे परम्परा को सर्वथा उपेक्षणीय तो नहीं मानते परन्तु उनका विरोध भी करते हैं जो परम्परा को अधिक महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में परम्परा को वे ही अधिक महत्व दे सकते हैं जिन्हें आधुनिक का कोई अनुभव या ज्ञान नहीं है। जो आधुनिक को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देख रहे हैं और उसे ही सम्पूर्ण मानते हैं वे क्लाईव्बेल के इस प्रश्न को चरितार्थ करते हैं—क्या वे समझ सकते हैं कि ऐसा नियम है कि कला का इतिहासकार सौंदर्यानुभूति का सब से बाद में एहसास करने वाला होता है?' मतलब आधुनिकता को समझने के लिये ऐतिहासिक अध्ययन या पारंपरिक चेतना का बहुत कम मूल्य है। क्योंकि इससे अनुसंधायक की :१: चलराशियां परिवर्तनहीन हो जाती हैं :२: इसका प्रयोग आधुनिकता को बिना जाने या समझे हुए किया जाता है और :३: यह जिस चीज़ का अनुसंधान करने चलता है, उसे गलत ढग से बदल देता है। उसकी दृष्टि—वैज्ञानिक दृष्टि—में 'आधुनिकता' एक खंडित घटना है जिस का बीती हुई घटनाओं से बहुत दूर का सम्बन्ध है। उन्हें 'आधुनिकता' और क्वांटम्सिद्धांत की समस्या में एक उपयोगी समानता दिखाई पड़ती है और वह यह कि व्यापक परीक्षक किसी सूक्ष्म कण के परीक्षण के दर्म्यान उसे अनिश्चित ढंग से बदल देता है। 'आधुनिकता' की प्रकृति वैसी ही सूक्ष्म है। इसे समझने के लिये ऐतिहासिक प्रभावों की अपेक्षा उपस्थित प्रभावों को धैर्यपूर्वक बैठ कर इकाइयों में अलग किया जाए तो अच्छा है। इस पद्धति की भी सीमाएं हो सकती हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा 'आज की आधुनिकता' पर विचार करते हुए उपस्थित प्रभावों में 'रोमांटिसिज़्म' को बहुत ही घातक मानते हैं और चिंतित होकर देखते हैं कि कहां तक और किस कोटि का रोमाण्टिसिज्म उनके आसपास भटक रहा है। उन्हें लगता है

कि जरा सा रूमानी तत्व आया कि सब कुछ ढह जायेगा। डा० अग्रवाल मानते हैं कि जहां विरोध दीखे वहीं आसपास 'आधुनिकता' के मिलने की सम्भावना है। 'आधुनिकता' जुड़ जाने में नहीं, अलगाव की शुरूआत करने में है। कहा जा सकता है कि यदि यही आधुनिकता है तो वह निरुद्देश्य और सतही है। सही है, ध्येय का पूर्वाभ्यास शिल्प को जन्म दे सकता है—कला को नहीं। कला में अन्त तभी स्पष्ट होता है जब रचना प्रक्रिया पूरी हो जाती है। अन्त को पहले से तभी जाना जा सकता है जब हम रचना प्रक्रिया के प्रति पूर्व सजग हों और यह केवल व्यवसायी कला शिल्प में सम्भव है।[3] वास्तुकार की प्रक्रिया और प्रयोजन पूर्व निर्धारित नहीं है– इसीलिये परम्परा से जोड़ कर देखने की गलतफहमी भी हो सकती है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में परम्परावादी उनकी 'आधुनिकता' में उद्देश्य ढूंढेगा और उसे न पायेगा, यह स्वाभाविक है। परम्परावादी 'आधुनिकता' की परिभाषा 'उद्देश्य' घटित करेगा। डा० अग्रवाल की यह 'आधुनिकता' केवल कलागत क्षेत्र की ही है इसीलिये वे ऐसी बात कर रहे हैं। डा० अग्रवाल 'आधुनिकता' का सम्बन्ध उस परम्परागत विषयवस्तु को नहीं मानते, जो परम्परा प्रतिष्ठ और गम्भीर है। खास कर जब रचनाकार को उस से मोह हो। इसके विपरीत वे मानते हैं कि 'आधुनिकता' में परम्परा के प्रवेश के लिये उससे विरक्ति अपेक्षित है और कच्चे माल की तरह उसका उपयोग आवश्यक है। 'आधुनिकता' का आग्रह सुधारने में नहीं, सृजन में है, वह आकार को सुधारती नहीं सृजन करती है। विषयवस्तु आधुनिकता की समस्या ही नहीं है—उसकी मुख्य समस्या तो अभिव्यक्ति की है। इसके लिये वे औजार परम्परा के राजपथ से नहीं, उपेक्षित गली-कूचे से लेते हैं परम्परा की अपेक्षा वे वास्तविकता और आडंबरहीनता से अपनी भाषा को लैस करते हैं– जो चीजों को कम, उसके सम्बन्धों को अपना लक्ष्य ज्यादा बनाती है। 'आधुनिकता' का सम्बन्धों और आकारों से गहरा लगाव है। रघुवीरसहाय की भाषा में यही सब तो है।

कहा जाता है कि यह टूटने का युग है, हर चीज टूट रही है, तोड़ने की शक्ति में असाधारण वृद्धि हो गई है। अतः अब ऐसा कुछ रचना चाहिये जो प्रहार कर सके। इसी लिये आधुनिकता की सृष्टियां भारी भरकम वाली नहीं हैं। वे अपनी पहुंच को देखती हुई छोटे आकार की हैं—मित कथन करती हैं, सादी और अभेद्य हैं। इनको पहचानने के लिये नये ढंग से देखना आवश्यक है। आधुनिकता ने अतिसाधारण और अतिशब्दार्थमयता की चरम सीमा छू ली है। फलतः डा० अग्रवाल की मान्यता है कि सर्वमान्य तक पहुँच के लिये उसने अमूर्तन का रास्ता पकड़ा है। अमूर्तन का यह रास्ता छायावाद में भी था पर वहां कल्पना की वस्तु को अभिजात भाषा में प्रस्तुत किया जाता था, आज यथार्थ के क्षेत्र से गृहीत घटना को बोलचाल की भाषा में व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिये कोलाज और टूटे यंत्र से बनी मूर्तियों को लें। छायावाद की तुलना में नई कविता की कृतियों में अमूर्तन और उसका क्रिस्टल की तरह का आंतरिक संगठन है।

निष्कर्ष यह कि डा० अग्रवाल मेरी उक्त स्थापना के विरुद्ध पड़ने वाली अनेक बातें

कह गये हैं। इस वैपरीत्य का कारण एक तो उनकी सीमा है—आधुनिकता को कला के क्षेत्र तक ही रखना। वैसे रखा तो मैंने भी है—आधुनिक काव्य के संदर्भ में ही। वे "आधुनिकता" को "परंपरा" के संदर्भ में देखने की अपेक्षा उपस्थित संदर्भों में ही परखना ज्यादा उचित समझते हैं और छायावादोत्तर "नई-कविता" के संदर्भ में उसे उसकी विशेषताओं के साथ स्पष्ट करते हैं। इस सीमा में वे न तो "परंपरा" की सजगता को आवश्यक मानते हैं और न ही "उद्देश्य" की स्पष्टता को।

वास्तव में "आधुनिकता" कालगत विशेषता के रूप में भी समझाई जाती है और दृष्टिगत विशेषता के रूप में भी। जब हम प्राचीनकाल और आधुनिक काल कहते हैं तब वह कालगत है और जब प्राचीन दृष्टि और आधुनिक दृष्टि कहते हैं, तब दृष्टिगत प्रतीत होती है। उभयत्र उसे सापेक्ष मानकर व्याख्यायित किया जाता है। यह अपेक्षा अतीत या परंपरा से ही है। मतलब यह कि एक विचारधारा कहती है कि आधुनिकता का पुरातन की सापेक्षता से भिन्न स्वतंत्र कोई अस्तित्व सिद्ध ही नहीं किया जा सकता, जबकि दूसरी विचारधारा—जिसका ऊपर संकेत किया जा चुका है—प्रतिपादित करती है कि आधुनिकता अपने में अलग महत्व रखती है तथा उसकी पुरातन निरपेक्ष व्याख्या करना ही उसे सही रूप में समझना है। दूसरे पक्ष को खोखला और बड़बोला बताते हुए पहले पक्ष के समर्थन में डा० गुप्त कहते हैं—"आधुनिकता का अर्थ मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है, वरन् सारग्राहिणी तत्व दृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात करते हुए मानव की वर्तमान नियति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपने दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है। व्यक्ति के भीतर सजगता और संवेदनशीलता का परिविस्तार होने पर अतीत एक बिंदु पर समसामयिक भी प्रतीत होने लगता है। इसके विरुद्ध विचार एवम् चेतना में संकीर्णता आने पर बहुत सा समसामयिक भी अतीत की तरह दूरवर्ती निरर्थक एवं निष्प्रेरक लगने लगता है। उनके विचार से सही अर्थ में आधुनिकता उस विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से उपजती है जो व्यक्ति को वास्तविक युगबोध प्रदान करने के साथ-साथ अधिक दायित्वशील, सक्रिय और मानवीय बनाता है। मेरी उक्त परिभाषा के अधिक नजदीक है यह चिंतन।

आधुनिकता के लिये नये से नये का जानना तो आवश्यक है, पर जो भी नये से नया हो, वह सब "आधुनिकता" का घटक नहीं है। प्रायः आज की नव-नव मानसिकता से "आधुनिकता" को संबद्ध किया जाता है और कहा जाता है कि "आधुनिकता" की समझ के लिये आज की मानसिकता को समझना आवश्यक है, क्योंकि वह भी किसी न किसी प्रकार उसका उत्स है। इसी संदर्भ में "आधुनिकता" को "अध्यात्म" से काटकर "विज्ञान" से जोड़ा जाता है। लगता है "विज्ञान" से पूर्व "आधुनिकता" थी ही नहीं। "परंपरा" से काटकर आधुनिकता को देखने पर वह कैसी हो गई है—इलियट का एक उद्धरण लें—

The tendency of unlimited industrialism is to create masses

of men and women detached from tradition susceptible to suggestions—in other words, a mob and 'a mob' will be no less a mob, if it is well fed, well housed and well disciplined.

वर्तमान औद्योगिकरण की असंयत प्रगति से जो विषम परिस्थिति उत्पन्न हो रही है और उसमें आदमी अपने को अतीत से काटकर आधुनिकता के नाम पर कितना खोखला और निरर्थक होता जा रहा है इसकी ओर इलियट ने संकेत किया है। मैं इसे अस्वस्थ "आधुनिकता" के नाम पर स्पष्ट करना चाहता हूं। यह नई मानसिकता—जो वैज्ञानिक संदर्भ की उपज है—है क्या? बात यह है कि नया प्रस्थान चेतना को भी भौतिक ही मानता है—भौतिक तो भौतिक है ही—यानी कुल मिला कर भौतिकता ही सत्य है, चरम सत्य है। विश्व चेतना की तह में चाहे जो हो, जो कुछ चल रहा हो—अभी परीक्षणीय है—पर जो कुछ जाग्रत चेतना पर हावी है, वह यह कि भौतिकता ही व्यष्टि और समष्टि दोनों क्षेत्रों में सर्वोपरि प्राप्य है। व्यष्टि के धरातल पर देह की दैहिक आवश्यकताएं तथा समष्टि के धरातल पर राष्ट्रों का भौतिक वृत्त और भौतिक वैभव ही आज की जागृत चेतना का सर्वोपरि उभरा हुआ रूप है। इस प्रवाह के कारण विश्व की भौतिक शक्तियां इसी उद्देश्य को प्राप्त करने में प्रतिस्पर्धी बनी हुई हैं। इस प्रतिस्पर्धी प्रवाह का सर्वोपरि मूल्य 'अर्थ' है और तदर्थ व्यवसाय माध्यम है। इस प्रकार आज का जाग्रत समष्टि चेतना प्रवाह व्यावसायिक हो गया है। व्यष्टि और समष्टि लक्ष्यपूर्ति के लिये चाहिये अर्थ और 'अर्थ' के लिए इस दौड़-धूप में सक्षिप्त मार्ग है व्यवसाय। फलतः, जो जीवन और समाज का नवप्रवाह है उसकी मानसिकता व्यावसायिकता का पर्याय है। यह व्यावसायिकता मानवता की विरोधी है। इस मानसिकता में दानवीय भावनाओं और क्षमिष्णु वृत्तियों ने अनुरूप परिवेश की सृष्टि की है। फलतः साहित्य में इसी नवीनता को आधुनिकता समझ कर उरेहा जा रहा है। अतः जो जितनी ही मात्रा में इस मानसिकता को उरेह रहा है—हम उसे उतना ही आधुनिकता सम्पन्न समझ रहे हैं। इस प्रवाह में ऐसी मानसिकता के दर्शन भी (अस्तित्ववाद) 'आधुनिकता' की परिधि में घिसटते चले आते हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास—सर्वत्र इस मानसिकता का प्रतिबिंब मिलता है और उसे आधुनिकता के संदर्भ में उद्धृत किया जाता है। एक लेखिका[6] मोहन राकेश की कृतियों के संदर्भ में 'आधुनिकता' को परिभाषित करती हुई लिखती हैं—'इसी लिए आधुनिकतावादी साहित्य में विकृति का तत्व अत्यधिक प्रबल है। दूसरे शब्दों में इसे कहा जा सकता है कि आश्चर्य, उत्तेजना, संत्रास, आत्मनिर्वासन, आत्महत्या या आत्महनन, विभीषिका, अपमान, नैराश्य तथा कुंठा इत्यादि ही आधुनिकतावादी साहित्य के प्रेरक तत्व हैं। इस लिए 'आधुनिकता' के काव्य के संदर्भ में उल्लेख्य विशेषताएं हैं—बुद्धिवाद, व्यंग्योक्ति, विसंगति, सांकेतिकता, दुर्बोधता, रूखापन, अनास्था, कटुता, अनुभूति तथा अजनबीपन आदि।[6]

इस तरह साहित्य में जो आधुनिकता की पहचान कराने वाले तत्व हैं, वे इसी मान-

सिकता की उपज हैं। कुछ उदाहरण लें—

श्रीकांत वर्मा की पंक्तियां हैं—

> बाध्य हैं हम दोनों
> एक दूसरे से घृणा
> करते हुए
> करने को प्यार।[8]

डा० धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' से 'आधुनिकतावादी' दृष्टिकोण का एक उदाहरण लें—

> इसलिये सूने गलियारे में
> निरुद्देश्य
> चलते हम रहें सदा
> दायें से बायें
> और बायें से दायें।[9]

पहले उद्धरण में समाज का संदर्श, यौन नैतिकता के संस्कार तथा व्यक्तिगत यौन भावनाओं के अदम्य समुच्छलन से उत्पन्न अविश्वास और विसंवाद की स्थिति का चित्रण है। नये सामाजिक ढांचे की नई मनोवृत्ति है—पर क्या इसे ही "आधुनिकता" का नामांतर कहें? हां, यदि इस "चक्रव्यूह" से हम सजग रूप में अवगत हैं और उससे उबरने की दिशा में कोई रचनात्मक प्रेरणादायी प्राप्ति का प्रयोग करते हैं—तो हम अधिक शक्त तथा स्वस्थ आधुनिक हैं।

दूसरे उद्धरण में अवश्य हमारे सामने एक प्रश्न रखा गया है कि निरुद्देश्य रूढ़ि का अनुवर्तन ऐसे ही करते रहें? मुक्तिबोध के "अंधेरे में" में संकट का भी संकेत है और आत्मान्वेषण की स्थिति की भी झलक है और इसका कारण है उनकी "दृष्टि" पर आस्था। दृष्टिहीनों की रचना में रचना और प्रेरणा के तत्व नहीं मिलेंगे। मैं ऐसे लोगों के साहित्य में उरेही हुई वृत्तियों को नवीन या नवीनतम् तो कह सकता हूं, पर सर्वथा "आधुनिक" नहीं।

इन उपर्युक्त उद्धरणों और विवेचनाओं से "आधुनिकता" को जिस मानसिकता से जोड़कर विवेचित किया जा रहा है, वह "विज्ञान" के ही दायरे में सोचने का परिणाम है। "आधुनिकता" शब्द जरूर इस प्रवाह में उभरकर आया—परंतु यह दृष्टिकोण इस दायरे से बाहर नहीं था—यह सोचना गलत होगा और इसीलिये इसे किसी खास दायरे की "नवीनता" के प्रवाह रूप में विवेचित करना भी गलत होगा। ये ही लोग जब तुलसी की अपेक्षा कबीर को आधुनिक कहते हैं—तब क्या समझ कर कहते हैं? कबीर में जो कुछ भी आधुनिकता के नाम पर दृष्टिगोचर होता है, क्या उसके मूल में अध्यात्मपरक दृष्टि नहीं है? इसीलिये अध्यात्म और विज्ञान की रेखा खींचकर नवीनता के पर्याय रूप में "आधुनिकता" के विवेचन

का ही परिणाम है कि इसे प्रायः शहरी जीवन से ही जोड़कर देखा जाता है और फलितार्थ के रूप में निम्नांकित निष्कर्ष निकाला जाता है—

"मनुष्य को आध्यात्मिक मानवतावाद से मुक्त करके प्राचीन सामाजिक प्रतिमानों, सम्बन्धों, सस्कृति तथा परंपराओं आदि के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करने का ही नाम आधुनिकता है ।"

वैदिक ऋचा है—"वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता: ।" कौन कहेगा कि यहां आधुनिकता नहीं है ? "पर उपकार सार श्रुति को" का उद्‌घोष करने वाला "अनाधुनिक" है ? दृष्टिहीनों और फैशन परस्तों की विकृत आधुनिकता को रेखांकित करते हुए मार्क्सवादी चिंतक अमृतराय तक ने रचनात्मक विवेक को आधुनिकता के रूप में परिभाषित करते हुए इस भ्रम से पाठकों को सचेत किया है कि वे कहीं समाजवाद को ही आधुनिकता का पर्याय न समझ लें, मतलब अन्य दृष्टिवालों में भी आधुनिकता मिल सकती है ।

इस विषय में कुछ राष्ट्र विकसित माने जा रहे हैं और कुछ अविकसित । विकसित राष्ट्र औद्योगिक प्रगति की ऊंचाइयां छूकर अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों से टकराहट और तद्‌जन्य विशेषताओं का भी अनुभव कर रहे हैं । विज्ञान की रचनात्मक शक्ति से चमत्कृत होने के बाद उसकी नाशक शक्ति से आंतकित हो रहे हैं। पारस्परिक स्पर्धा के चक्र में पड़कर वे विक्षिप्त की तरह युद्ध की विवशता पैदा कर शांति खोज रहे हैं । अविकसित देशों में अभी पहला दौर है—अतः इनकी "आधुनिकता" उनसे भिन्न हो सकती है । अपनी-अपनी दृष्टि से अपने विकास क्रम मे परिस्थिति के अनुरूप आधुनिकता की ऐसी व्याख्या करनी होगी जो उसके यथार्थ को छू सके और जिसमें अन्य देशों के कटु अनुभवों के ज्ञान से लाभ उठाने की सजगता भी वर्तमान हो । देशों की प्रगति के धरातल भले ही भिन्न हों, पर विश्वमानव की नियति विभाजित नहीं है ।

●

आधुनिकता के नाम पर मैं जितना ही सोचता हूँ—मुझे लगता है कि मानवतावादी (Humanitarianism) जीवन दृष्टि इसका प्रधान और मूल आधार है । मानवता को परिभाषित करते हुए कहा गया है—Any view, in which interest in Human value is central—विभिन्न देशों और युगों में जहां भी पुरातन से आधुनिक का सघर्ष हुआ, वहां उसके मूल में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में मानवीयता की उपेक्षा और तद्‌जन्य विरोध अवश्य निहित रहा है । दास-प्रथा, राजतंत्र, जातिवाद, सांप्रदायिकता, उपनिवेशवाद का विरोध इसी कारण हुआ कि इनमें कहीं न कहीं अमानवीयता की गंध थी। उसे हटा कर ही प्रगति सम्भव थी । इनसे संघर्ष में ही हमें संतोष मिलता है और अपनी सार्थकता प्रतीत होती है । मतलब यह कि जिनके पीछे मानवतावादी दृष्टिकोण निहित न हो, आधुनिकता के नाम पर प्रचलित वे सारी बातें निरर्थक हैं ।

दि फिलासफी आफ ह्यूमेनिज्म'—में कारलिस लेमांट ने मानवता के दस सूत्र निर्धारित किये हैं । 'मनुष्य' को केन्द्र से हटाकर 'आधुनिकता' के विषय में सोचने पर हम क्या पा

सकते हैं ? प्रजातंत्र और समाजवाद का संघर्ष भी इसी के अनुवर्तन से सम्भव है ? जुंग ने भी आधुनिकता और आधुनिक मनुष्य को इस तरह परिभाषित किया है The modern man is a newly formed human being, a modern problem is a question which has just arisen and whose answer lies in the future.........it must be clearly understood that the mere fact of living in the present does not make a man modern, for in that case every one at present alive would be so. He alone is modern who is fully concious of the present —अर्थात आधुनिक मनुष्य वह है जो वर्तमान के प्रति पूर्ण सजग हो। जुंग ने समय निरपेक्ष बनाकर आधुनिक की परिभाषा नहीं दी। जुंग मानता है कि पुरातन युग की चेतना के समस्त स्वरों की मानसिकता को भोगकर, उन्हें पार करते हुए ही आधुनिकता तक पहुंचा जा सकता है। यूरोपीय आधुनिक मनुष्य विज्ञान से संत्रस्त होकर आंतरिक जीवन के तथ्यों की शरण लेने पर विवश हो रहा है। आइस्टिन जैसा वैज्ञानिक भी इसी बात को प्रकारान्तर से व्यक्त करते हुए लिखता है—The serious scientific wakers are the only profecendly relisions people. इन सबसे स्पष्ट है कि विज्ञान के निकट ले जाकर आधुनिकता की व्याख्या करना उलटी और अर्थहीन पद्धति है। यदि आधुनिकता की कोई सार्थकता है तो वह मानवीयता संवलित विशिष्ट युगबोध में ही है, जिसके लिये विज्ञान की अपेक्षा ऐतिहासिक पद्धति का ज्ञान अधिक अपेक्षित है। कला की परिधि को लांघ कर सामान्य 'आधुनिकता' पर विचार करने वाले भी इसी धारणा से सहमत हैं। नेहरु ने कहा है—The modern mind that is to say better type of the modern mind, is practical and progra-matic, ethical and social altrutic and humanitarean. It is governed by a practical idealism for social betterment. The ideals that move it represent the spirit of the age the yugdhurma.

स्पष्ट ही यहां मानवतावादी और सामाजिक दृष्टि से आधुनिक दृष्टिकोण का अभिन्न सम्बन्ध माना गया है।

———

— अध्यक्ष — हिन्दी विभाग,

वि० वि० वि० आवासगृह देवास रोड़, उज्जैन—म० प्र०

संदर्भ :

१. आधुनिकता के पहलू — पृष्ठ १३
२. वही—पृ० १७
३. वही—पृ० २४
४. नई ककिता :
   स्वरूप और सम्भावनाएं — पृ० २०
५. वहीं से उद्धृत— पृ० २०
६. आधुनिकता और मोहन राकेश—पृ० २९
७. वहीं से उद्धृत
८. अंधा युग।
९. नई कविता :
   स्वरूप एवं समस्याएं से उद्धृत-पृ० २५
१०. वही- पृ० २६

संस्कृति

महाभारत में प्रतिपादित धर्म

—शम्भुनाथ शास्त्री

'मैं अपनी भुजा उठा कर उच्च स्वर से पुकार रहा हूं। परन्तु कोई मेरी बात नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्म से ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ तथा काम का मूल निश्चित रूप से धर्म ही है। तब उस धर्म की उपासना क्यों नहीं करते ?'[1] व्यास जी की यह उक्ति यह स्पष्ट प्रतिपादित करती है कि त्रिवर्ग का सार धर्म ही है। महाभारत की दृष्टि में धर्म ही मानव कल्याण का परम साधक तत्व है। महाभारत का युद्ध धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र संघर्ष का काल्पनिक प्रतीक न होकर वास्तविकता का स्पष्ट निर्देश ही है। इसे समझने के लिये महाभारत में पुष्कल सामग्री भरी पड़ी है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्युमय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहयोगी धर्ममय वृक्ष हैं। कौरवों के युद्ध में पाण्डवों की विजय अधर्म के ऊपर धर्म की विजय का भव्य निदर्शन है।[2] महाभारतीय कथानक का अभिधेयार्थ इसी धर्म-विजय की अभिव्यंजना में है। महाभारत धर्म का केवल शाब्दिक प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युत वह अपने कार्यों से, नाना घटनाओं से, पांडवों के विषम स्थिति में निष्पादित कार्य-समूहों से, धर्म का व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरंतर करता है। इस ग्रन्थ की शिक्षा सुभग एवं सुन्दर है और धर्म को समझाने एवं आचरण करने में अधिक बल देती है। तदनुसार धर्म ही परलोक जाने वाले प्राणी का एकमात्र बन्धु है। अर्थ तथा पत्नी बन्धु के रूप में सामान्यतः प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परन्तु निपुण व्यक्तियों द्वारा सेवित होने पर भी ये दोनों न तो आप्तभाव-मित्रभाव को ही प्राप्त होते हैं,

---

1. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् श्रृणोति मे ।
   धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।
2. दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
   दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी ।।
   युधिष्ठरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
   माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ।।

   आदिपर्व, १ ११०-१११

श्रौर न स्थिरता ही धारण करते हैं। इनके विपरीत, धर्म निश्चय ही हमारा श्राप्त पुरुष तथा सर्वदा स्थायी नित्य तत्व है।[3]

महाभारत की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के प्रतिपादक ग्रंथों में अद्वितीय है। यह प्रबन्धात्मक महाकाव्य उपजीव्य होने पर इतिहास[4] के रूप में प्रतिष्ठित है। स्वयं महर्षि व्यास ने इसे इतिहासोत्तम कहा है। इसी व्यास रचित महाकाव्य का सहारा लेकर परवर्ती कवियों ने अनेक गीतिकाव्यों, महाकाव्यों और नये-नये रूपकों की रचना करने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो यहां है, वह अन्यत्र नहीं है। जो यहां नहीं है, वह कहीं नहीं है।[5] महाभारत का धर्म-शास्त्रीय आधुनिक स्वरूप आदिम रूप में—'जय' नामक पाण्डवों की विजयगाथा के मूलत: वर्णनात्मक ग्रंथ में—नहीं था, क्योंकि शतसाहस्त्री संहिता में ही इसके आख्यानात्मक होने का प्रमाण मिलता है।[6] कात्यायन के वार्तिक एवं पतञ्जलि के महाभाष्य में महाभारत के प्राचीन आख्यानों की सत्ता के संकेत मिलते हैं।[7] इन आख्यानों से संवलित महाभारत का प्रणयन पतंजलि (ई० पू० द्वि० शती) से पूर्व हो चुका था। आश्वलायन गृह्य सूत्र (ई० पू० ६ठी शती) में तर्पण के अवसर पर भारत तथा महाभारत दोनों ग्रन्थों के धर्माचार्यों का पृथक्-पृथक् तर्पणविधान का निर्देश किया गया है।[8] जिस से स्पष्ट है कि महाभारत ई० पू० पंचम या षष्ठ शती में अपने पूर्ण रूप में विकसित हो चुका होगा।

---

3. धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
   अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना, नैवाप्तभावमुपर्यान्ति न च स्थिरत्वम्॥
   आदिपर्व, २.३९१

4. इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
   पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥ वही, २.३८५
   इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
   उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥ वही, २.३८९

5. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
   यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ आदि०, ६२.५३
   अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
   कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥ वही, २.३८३

6. इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
   उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥ वही, १.१०१

7. पाणिनिसूत्र ४.२.६० पर कात्यायनवार्तिक-आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च-के ऊपर पतंजलि द्वारा 'यवक्रीत,' 'प्रियंगु,' 'ययाति' आख्यानों का उल्लेख। 'यवक्रीत'—वन पर्व १३५-३८ में, तथा 'ययाति'—आदिपर्व अ० ७६-८५ में।

8. सुमन्तु-जैमिनिवैशम्पायन-पैल-सूत्रभाष्य भारत महाभारत धर्माचार्याः......तृप्यन्तु।

इस ग्रंथ में धर्म की व्याख्या बड़ी ही व्यापक रूप में की गई है। इस विशाल विश्व के नाना विभिन्न अवयवों को एक सूत्र में, एक शृंखला में बांधने वाला जो सार्वभौम तत्व है वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करने वाला तत्त्व दूसरा नहीं है। धर्म के बिना जगत् अस्थिर एवं उच्छृंखल हो जाता है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर के धर्म विषयक प्रश्न के उत्तर में इसकी व्यापकता एवं महनीयता की ओर संकेत किया है। वेद द्वारा धर्म का विधान सब आश्रमों में अदृष्ट फल देने वाला कहा गया है। सद्वस्तु के आलोचन (तप:) का फल मरण से पूर्व ही प्राणी को प्राप्त होता है। धर्म के द्वार बहुत से हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती[9]। अतः धर्माचरण सर्वदा सराहनीय है।

किंतु सांसारिक स्थिति बड़े से बड़े धार्मिक व्यक्ति को भी डावांडोल कर देती है। वनवास में युधिष्ठिर अपनी दीन-हीन दशा पर जब क्षुब्ध हुए तो लोमश ऋषि से प्रश्न करते हैं—भगवन्, मेरा जीवन अधार्मिक नहीं कहा जा सकता, तथापि मैं निरंतर दुःखों से प्रताड़ित रहा हूं। धर्माचरण पर भी इतना दुःख ! उधर अधर्मगामी सुख-समृद्धि के भाजन बने हुए हैं ! इस प्रश्न के उत्तर में लोमश ऋषि का कथन विचारणीय है[10] - अधर्म से मनुष्य की सुखसमृद्धि जो दिखाई देती है वह क्षणिक ही होती है। अधर्म से मनुष्य बढ़ता है। कल्याण को देखता तथा पाता है। शत्रुओं को भी जीतता है, परन्तु अंत में वह समूल (पुत्र पौत्रादिकों सहित) नष्ट हो जाता है। धर्म का आचरण सकामभाव से संपादित होने पर ऐहिक फलों को देने वाला, एवं निष्काम भाव से आदृत पारलौकिक आनन्द प्रदान करने वाला कहा गया है। इसीलिये समझदार व्यक्ति को चाहिए कि धर्मविहीन कर्म[11]—चाहे वह कितना ही महान् फल देने वाला क्यों न हो—न करे। क्योंकि परिणाम भयानक होता है। स्वयं की आत्मा पीड़ित एवं अशान्त बनी रहती है।

यदि कोई व्यक्ति अन्याय पीड़ित हो और उचित सभासदों के सामने अथवा न्यायाधिकारी के सामने उपेक्षित रहे तो धर्म का ह्रास होता है। अधिकारी पापभाजन बनते हैं। इससे उस व्यक्ति को ही नहीं बल्कि सारे समाज को परिणाम भुगतने पड़ते हैं। धर्म की हानि कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकती। द्रौपदी के चीरहरण के अवसर पर विदुर जी

---

9. सर्वत्र विहितो धर्मः सत्यप्रेत्य तपःफलम्।
   बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ — शांतिपर्व, १७४.२

10. वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
    ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ — वनपर्व, ६४.४

11. धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
    न तत् सेवेत मेधावि न तद्धितमिहोच्यते ॥ — शां. प. अ. २९३.५

के वचन[12] बड़े ही मार्मिक हैं - किसी राजसभा में आर्तव्यक्ति, जो दुःखों से प्रताड़ित होकर न्याय मांगने के लिये जाता है, जलती हुई आग के समान होता है। उस समय सभासदों का कर्तव्य है कि वे सत्य धर्म द्वारा उस प्रज्वलित अग्नि को शांत करें। यदि अधर्म से विद्ध होकर धर्म सभा में उपस्थित हो, तो सभासदों का यह धर्म होता है कि वे उस कांटे को काट कर निकाल बाहर करें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे सभासद् स्वयं अधर्म से विद्ध हो जाते हैं और अधर्म के कारण जो पाप हो गया है उसका कितना भाग किस को मिलता है यह दर्शनीय है। जिस सभा में निंदित व्यक्ति निंदित नहीं किया जाता, वहां उस सभा का श्रेष्ठ पुरुष आधे पाप को स्वयं लेता है। करने वाले को चौथाई पाप मिलता है और चौथाई पाप सभासदों को प्राप्त होते हैं। न्याय-अन्याय की इतनी सूक्ष्म विवेचना शायद ही कहीं और मिले।

इसी तरह का विवेचन उद्योगपर्व में भी मिलता है जब श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की सभा में संधि कराने के उद्देश्य से स्वयं दौत्यकर्म स्वीकार करते हैं। यहां पर भी विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण— अ० ९५.५० श्लोक उद्धृत है। इसी प्रसग में कहा गया है कि जहां सभासदों के देखते हुए भी धर्म अधर्म के द्वारा और सत्य झूठ के द्वारा मारा जाता है, वहां सभासदों को मुर्दे ही कहना चाहिए।[13] जो सभासद अधर्म को देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस अधर्म या अन्याय का प्रतिकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी प्रकार तोड़ डालता है जिस प्रकार नदी किनारे पर उगने वाले वृक्षों को अपने वेग से तोड़ कर गिरा डालती है।[14]

इसी प्रकार का प्रसंग विराट पर्व में भी वर्णित है जब पाण्डव अज्ञातवास करते हुए विराट राजा के पास नौकरी करते हैं। द्रौपदी सैरन्ध्री के नाम से महारानी के पास रहती हुई जब अपने साथ किए गये कीचक के दुष्कृत्यों को राजा से कहती है और राजा कीचक को

---

12. द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत्।
न च विब्रूत त प्रश्नं सभ्याः धर्मोऽत्र पीडयते ॥
सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ सभापर्व- ६८.५९-६०
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवती कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ वही, ७७-८

13. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ उद्योग प. ९५.४९

14. धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्।
येऽधर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥ वही, ९५.५१

रोकने में अपने आप को असमर्थ पाता है तो अपमानिता द्रौपदी की राजा के प्रति चुनौती भरी ललकार देखने योग्य है[15]—

राजा का धर्म अन्यायी को दण्ड देना है, परन्तु तुम राजा होकर भी कीचक के प्रति राजवत्—राजा के समान—कुछ भी नहीं करते हो। यह तो डाकुओं का धर्म है। सभा में यह तुम्हें कथमपि शोभा नहीं देता. कितनी उग्र है यह भर्त्सना !!! कीचक राजा द्रुपद की सेना का सेनापति है। राजा को चाहिए था कि परस्त्री के साथ किये गये उसके जघन्य अपराध का दंड देता ! इस न्याय से पराङ्मुख होने वाले राजा का धर्म डाकुओं का धर्म है।

महाभारत का समय बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के उत्कट तथा घनघोर संघर्ष का युग था। बौद्ध धर्म अपने नास्तिक विचारों के कारण जनसाधारण का प्रियपात्र बना हुआ था। लोग धड़ाधड़ संन्यासी बन रहे थे। यहां तक कि जो अभी बच्चे थे, जिन के दाढ़ी मूंछ भी नहीं उगी थी, घर द्वार से नाता तोड़ कर जंगल की खाक छानना ठीक समझ रहे थे।[16] महाभारत के प्रणेता के सामने यह समाज-ध्वस की अनिष्टकारिणी प्रथा अपना विकराल मुख खोल कर खड़ी थी। शांति पर्व के आरम्भ में इस संघर्ष की भीषणता का परिचय मिलता है, यहां युधिष्ठिर भी वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना कर निवृत्ति मार्ग के पथिक के रूप में चित्रित किये गये हैं। वे अरण्यवास की सुख सुविधा, सुषमा तथा स्वच्छन्दता का वर्णन बड़ी मार्मिकता एवं युक्ति से करते हैं।[17] आवश्यकता थी इस समाज विरोधी संन्यास धर्म को रोकने की, और गृहस्थ धर्म को स्थापित करने की, उसकी महत्ता प्रतिपादित करने की !!

ऐसा लगता है कि महाभारत युद्ध में भूयसी नरहत्या से विषण्णचित्त युधिष्ठिर, मानव के शाश्वत मूल्यों की अवहेलना कर, संन्यास जीवन के प्रति अत्यासक्ति के कारण बौद्धभिक्षु का प्रतिनिधित्व करते हैं और यदि उन्हें उनके चारों भाइयों श्रीकृष्ण एवं महर्षि व्यास के स्वस्थ उपदेश न मिलते, तो वे भी वही कर डालते जो शताब्दियों पीछे कलिंग विजय में हुए नरसंहार से ऊब कर सम्राट् अशोकवर्धन ने किया।[18] असामयिक वैराग्य से उद्विग्नचित

---

15. न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते नहि संसदि शोभते ॥ विराटपर्व १६.३१

16. केचित् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥
धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धाः ब्रह्मचारिणः।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ शांति पर्व. ११.२-३

17. शांति पर्व अ. ९

18. तु० मनुस्मृति—संघर्ष तथा विरोध की झलक—
अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य सुतानपि।
अनिष्ट्वा शक्तितो यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् पतत्यधः ॥ ६.३७→

युधिष्ठिर की नकुल ने गृहस्थाश्रम को छोड़ कर असमय में निवृत्तिमार्ग के पथिक होने के कारण गहरी भर्त्सना की है और उसे उस मेघखण्ड के समान बताया है जो हवा के झोंके से प्रेरित होता रहता है और उसकी स्थिति—इतोभ्रष्टस्त् ततो नष्ट—न इधर के रहे न उधर के रहे—उस व्यक्ति के समान है जो दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर त्रिशंकु के समान अधर में लटका रहता है।[19] समाज को विघटनकारी प्रवृत्तियों से बचाने के लिये, गृहस्थ धर्म के प्रवृत्तिमार्ग को समझाने के लिए प्रभूत सामग्री महाभारत में भरी पड़ी है। अपने को जो बुरा लगे, वह आचरण हमें दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए।[20]

समाज के लिए सामान्य धर्म के पालन का उपयुक्त उपदेश हमें सर्वत्र मिलता है। महाभारत में इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है। अजातश्मश्रु बालसंन्यासियों की टोली के सामने शक्र ने विघसाशी (विघस—पंच महायज्ञों का अवशिष्ट अन्न, आशी—भोक्ता) की भूरि प्रशंसा की है, जिसका स्पष्ट फलितार्थ है—गृहस्थ ! अर्थात् जो प्रातः सायं अपने कुटुम्बियों को अन्न का विभाजन करता है, अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजन को देने के बाद अवशिष्ट अन्न को स्वयं खाता है वही 'विघसाशी' के महत्वपूर्ण अभिधान से वाच्य होता है।[21] गृहस्थाश्रम की भूयसी प्रतिष्ठा का हेतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम के ऊपर आश्रित तथा अवलंबित हैं। अर्जुन ने इस आश्रम की स्तुति में अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है।[22] यदि भिक्षुक को गृहस्थ राजा दान नहीं देता, तो भिक्षुक

→ चारों आश्रमों का पोषण करने के कारण गृहस्थ आश्रम को सर्वत्र सर्वोपरि एवं अनिवार्य बताया गया। ऋणत्रय-वेदाध्ययन, पुत्रोत्पादन, यज्ञविधान-पर ज़ोर डाला गया।

19. अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो ॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥ शांतिपर्व १२.३३-४

20 परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥ पराशरगीता शांति अ. २९०

21. सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि।
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ शांतिपर्व ११.२३-४

22. न चेद् राजा भवेद दाता कुतः स्युर्मोक्षकांक्षिणः।
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च ॥
अन्नाद् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्।
गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते ॥ वही, १८.२७-९

वैसे ही उपशांत (मरणदशा) हो जाता है जैसे ईंधन न डालने पर आग। अन्न से ही गृहस्थ होता है और गृहस्थ से ही भिक्षुओं का अस्तित्व है। अन्न से प्राण बनता है और इसलिये अन्न-दाता प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थ से निर्मुक्त होने पर भी गृहस्थों पर ही आश्रित रहता है। दांत लोग गृहस्थों से ही अपना प्रभव तथा प्रतिष्ठा प्राप्त कर निश्चितता से अपना जीवन यापन करते हैं। फलतः गृहस्थ आश्रम ही भारतीय समाज का मेरुदण्ड है।

महाभारत के अनुसार गृहस्थ जीवन के लिये हिंसा का ऐकांतिक परित्याग न तो सम्भव है और न ही गर्हणीय। मानव जीवन हिंसा के ऊपर आधारित है। बड़े पशु छोटे पशुओं की हिंसा करके ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं और अपना प्राणधारण करते हैं। महाभारत हिंसा के उज्ज्वल पक्ष को हमारे सामने रखता है जब वह कहता कि दूसरों के मर्म को बिना छेदे हुए, दुष्कर कार्य को बिना किये और अपने शत्रु को बिना मारे क्या मनुष्य कभी महती लक्ष्मी को पा सकता है?[24]

इतना ही नहीं, अपने शत्रु को जिसने नहीं मारा उसे कभी क्या कीर्ति मिली? धन तथा प्रजा को कभी पाया? नहीं, कभी नहीं। इन्द्र ने वृत्रवध के कारण महेन्द्रत्व प्राप्त किया। लोक उन्हीं देवों की पूजा करता है जिन्होंने शत्रु को मार कर अपना पद प्रतिष्ठित बनाया। इस लोक में कोई भी जीवित प्राणी अहिंसा से कभी जीवित नहीं रहता है—उसे अपने जीवन निर्वाह के निमित्त हिंसा का आश्रय लेना ही पड़ता है—यह लोक जीवन का ध्रुव सत्य है।[25]

यहां बौद्धवाद तथा जैनवाद के अहिंसावाद की खरी आलोचना की गई है। हिंसा का सहारा लेकर दण्ड का विधिवत आश्रयण राजा का अनिवार्य कर्तव्य होता है। अर्जुन ने[26] दण्ड की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसे समाज के मंगल साधन का प्रधान अंग माना है। अहिंसा सिद्धान्त का अन्यथा तात्पर्य लगाकर अपने विरोधी राष्ट्रों के आक्रमणों का प्रतिकार करने से जो अधिकारी वर्ग आज भी हिचकते हैं उन्हें महाभारत का शांतिपर्व, अध्याय पंद्रहवां का गंभीरता से मनन तथा अनुशीलन करना चाहिए। प्रत्येक शासन का कर्तव्य है कि वह अपने देश तथा राष्ट्र को बचाने में शत्रुओं को मारने में न हिचकिचाये। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उशना नामक प्राचीन दंडनीति के आचार्य के अनुसार यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जायगी जिस प्रकार सांप बिलशायी चूहों को निगल जाता है।[27]

---

23. वही १५.२०-५

24. नाछित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
    नाहत्त्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥ — वही, १५.१४

25. न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया। — वही श्लोक २०

26. शांतिपर्व अ. १५

27. द्वावेव ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
    राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥
    महाभारत में अनेकस्थलों पर उद्धृत। द्रष्टव्य अ. ५७. २-३

कविता

प्रतीक्षारत

—जवाहर रैणा

अनुमान
कितने लगाए थे हमने
कि छू लेंगे उन शिखरों को
जो उन्नत हैं
अपराजेय हैं—
किन्तु
असहाय
फिसल कर जा गिरे हैं
बहुत गहरी खाई में...हम !

हमें तलाश है
ऊंची चोटी पर बैठे उस आदमी की
जो निकाल सके हमें
खाई से बाहर
और
पहुंचा दे हमें
हमारे सपनों के देश में
क्योंकि अब
असमर्थ हैं—हम
स्वयं कुछ करने में

ज्ञात है तुम्हें ?
रख चुके हैं गिरवी
हम अपना दिमाग
अपने हाथ-पांव—
केवल अनुमानों के दाम !

—मुट्ठी ग्राम, जम्मू

रंग - नाटक

ताकन लागे काग

—सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा 'आनन्दम'

[ढालुआं छत वाली एक झोंपड़ी, जिसकी छत काई और घास की बनी है। दीवारें मिट्टी की हैं जिनपर सफेद मिट्टी से कुछ चित्र रेखांकित हैं। प्रवेश द्वार वाली तथा अन्य दीवार जिसमें एक खिड़की खुलती है साफ दिखाई दे रही हैं। प्रवेश द्वार के साथ ही एक बड़ा-सा मटका रखा है।

खुले आंगन में एक-दूसरे से कुछ अंतर पर दो ठूंठ हैं, एक ओर विशाल पत्थर है तथा आवश्यकतानुसार......। पुत्र रोहित गुमसुम-सा उदास खड़ा है। थकी हारी निढाल अवस्था में हरिश......जिसके बाल बिखरे हैं......का प्रवेश]

रोहित—आप आ गये पिता जी ?

हरिश—[यत्नपूर्वक मुस्काता हुआ साश्चर्य] अभी तक तुम यहीं खड़े हो बेटा ?

रोहित—बहुत भूख लगी है पिता जी ! मां को भी बहुत भूख लगी है।

हरिश—[रोहित के सिर पर हाथ फेरता हुआ] सत्यम् वद, धर्मम् चर। सत्यम् वद धर्मम् चर। [मायूस तारा भीतर से बाहिर आ कर धीरे-धीरे हरिश की ओर बढ़ रही है। हरिश उसकी ओर देखने लगता है] सत्यम् वद, धर्मम् चर।

तारा—[समीप आ कर रुक जाती है] शायद, खाली ही लौटे हैं, आप ?

हरिश— दान को स्वीकार करना मेरे स्वभाव में नहीं है और मेरे परिश्रम का सही मूल्यांकन किसी को स्वीकार नहीं।

[प्रश्नवाचक-सा रोहित बारी-बारी दोनों की ओर देखता है। निरुत्तर-सा हरिश चुपचाप जा कर विशाल पत्थर पर खोया-खोया-सा बैठ जाता है। इसी प्रकार चुप-चुप जा कर तारा एक ठूंठ के सहारे खड़ी हो जाती है। याचक-सा रोहित बारी-बारी दोनों की ओर देखता है। फिर कभी एक कदम हरिश की ओर तथा कभी एक कदम तारा की ओर बढ़ता है। कुछ पल इसी उलझन के पश्चात् वह हार कर तनिक तेज कदमों चलता हुआ प्रवेश द्वार के पास आ रुकता है और वहीं अंतर्द्वंद्व झेलने की मुद्रा में भूमि पर बैठ जाता है। सन्नाटा छा जाता है।

कुछ पल पश्चात धीरे-धीरे चलता हुआ हरिश आंगन के मध्य में आ रुकता है। इसी प्रकार आगे आ कर तारा उसके पास खड़ी हो जाती है। दोनों एक दूसरे की ओर अवाक देखते हैं। इतनी देर में उठ कर चलता हुआ रोहित भी इनके पास आ खड़ा होता है।]

तारा—स्वामी ?

हरिश—हूँ ? [तारा अपना आंचल सम्भालती है।] तुम कुछ कह रही थीं, तारा ?

तारा—आप मुझ से संतुष्ट हैं ?

हरिश—यह कैसा प्रश्न है तुम्हारा ?

तारा—[क्षणिक विराम] निःसंदेह मैं आपकी जीवन-संगिनी हूँ......।

हरिश—हो तो ! [तारा अपने आंचल का एक छोर हाथों में लेकर मरोड़ने-तोड़ने लगती है।] चुप क्यों हो गई तारा ? कोई संकोच है क्या ?

तारा – संकोच नहीं, जिज्ञासा है !

हरिश—कहो तो। हम भी सुनें तारा की जिज्ञासा कैसी है ?

[रोहित का प्रस्थान]

तारा—और कब तक हमारी दशा दलित होगी ? और कब तक स्वामी ?

हरिश—[तारा की पीठ पर हाथ रख कर] तारा ! हरिश की दशा न कभी दलित हुई है और न कभी हो सकेगी। सत्य उसकी अमित पूंजी है।

तारा—सो तो ठीक है स्वामी किन्तु......?

हरिश—जब हमारा सत्य हम से छिन जाएगा......तभी हमारी दशा दलित हो सकेगी। (विराम) तुम चुप क्यों हो गई, तारा ? बोलो !

तारा—न जाने कौन-सा बैर था हमारे साथ, विश्वामित्र को......।

हरिश—[विह्वल-सा एक दम तारा को चुप रहने का संकेत देता हुआ] विश्वामित्र महोदय का नाम इस प्रकार न लिया करो तारा !

तारा—क्यों ? इस प्रकार क्यों न लूं उसका नाम जिसके कारण हम कहां से कहां पहुंच गये। हम क्या थे और क्या हो गये ? वह विश्वामित्र......

हरिश—हमारे शुभचिन्तक हैं......शत्रु नहीं।

तारा—हमारी यह दशा उन्हीं के शुभचिन्तन का प्रमाण है। वह दुराचारी हैं...... अधर्मी हैं।

हरिश—नहीं तारा, नहीं। वे दुराचारी, अधर्मी नहीं हैं। जो उनके धर्म ने कहा, उन्होंने किया और जो हमारे धर्म ने कहा हमने किया और जो-जो हमारा धर्म कहता है, हम कर रहे हैं।

[रोहित का प्रवेश। दोनों की बातें सुनता है]

तारा—उनका धर्म ? हमारा धर्म ? सत्य क्या है स्वामी ?

हरिश—सत्य एक आचरण है। सत्य एक परीक्षा है।

तारा—सत्य और धर्म की ये कठोर परीक्षाएं हमारे ही लिये हैं क्या ? एक युग था जब

राज-पाठ सब छिन गया। एक युग था घर-बार गया। खेत खलिहान सब गये। यातनाओं पर यातनाएं मिलीं। यातनाओं के नद पार किये तो यातनाओं के सागर मिले।

हरिश—तुम ठीक ही समझी हो तारा! यातनाओं के सागर में हम घुलमिल जाएंगे। बीते युग की भांति फिर कोई सुर-असुर दल आएंगे। सागर मन्थन होगा और, और अपने अज्ञात पाप धो कर हम पुनः आएंगे।

तारा—क्या हमें अभी और घुलना शेष है? नये सागर मन्थन की प्रतीक्षा अभी शेष है क्या?

हरिश—हां! ऐसा ही निश्चित है।

तारा—तब तो स्वामी......[रोहित मूर्छित अवस्था को प्राप्त होता है। उसे देखते ही संवाद अधूरा रह जाता है।] हमारा यह लाल! स्वामी, स्वामी! अपना पुत्र रोहित? देखें तो स्वामी?

हरिश—[विकल होते होते अविकल होने की चेष्टा से] सत्य की गोदी में निद्रामग्न है!

तारा—[विदीर्ण] देखें! देखें स्वामी! [हरिश को प्रभाव शून्य देख कर रोने लगती है] आपका सत्य कितना कठोर है स्वामी? आपका मन इतना वज्र क्यों है? आपके हृदय से वात्सल्य कहां विलीन हो चुका है।

हरिश—धैर्य से काम लो तारा, धैर्य से।

तारा—[रोती हुई] धैर्य से? और नहीं रहा धैर्य। रोहित को देखें स्वामी! पुत्र को होश में लाएं। कोई उपचार करें। [हरिश के घुटने थाम कर] स्वामी......! स्वामी......!

हरिश—[करुण-सा तारा को उठा कर रोहित की ओर देखता हुआ] सत्य को जो स्वीकार हो......निश्चय ही घट जाता है। और अब तो घट भी चुका।

तारा—घट भी चुका! [इसी संवाद को बार-बार दोहराता, रोती हुई मूर्छित हो जाती है।]

हरिश—[अवाक] मेरा मन क्यों बैठने लगा? [सम्बोधन] धैर्य! हे मेरे धैर्य! तुम भी क्यों छूटने लगे? तुम......? [निर्णय] नहीं! मैं ऐसा कदापि न होने दूंगा। धैर्य नहीं छूट सकता। मैं सूर्यवंशी हूं। धैर्य से ही सूर्य की निरन्तर गति है। अन्यथा संसार अंधकारमय होता। सूर्य कभी नहीं मरा। मैं भी नहीं मरूंगा। सूर्य सदैव तपा है। मैं भी जन्म-जन्म से तपा हूं। [दो एक आंसू बह निकलते हैं। सोखता है किन्तु थम नहीं पाते] प्रभो! हे प्रभो! मेरे पांव क्यों डगमगाने लगे? [तारा तथा रोहित की ओर देखता हुआ] सत्य का यह विघटन सार्थक है क्या? मेरे विश्वास का अंत न दिखाओ प्रभो! सोख लो मेरे ये आंसू। मेरा धैर्य बना रहने दो। वज्र कर दो मेरा मन।

['प्रभो' शब्द के बार-बार उच्चारण के साथ घुटन महसूस करता हुआ मूर्छित हो जाता है। प्रकाश मद्धिम हो जाता है। कुछ छायाएं हरिश्चंद्र, तारा तथा रोहित की देहों की ओर बढ़तीं, उनके इर्द-गिर्द नृत्य करती हैं। कुछ ही समय पश्चात् दैवीय संगीत

उभरता है। मद्धिम प्रकाश को चीरती हुई तीव्र प्रकाश किरण के साथ आ रहे 'सत्यपुरुष' को देख कर छायाएं कहकहे लगाती हैं।]

सत्यपुरुष—[चारों ओर देख कर मुस्काता हुआ] हंसो मत ! मैं इसे......एक बार फिर ......नया जन्म दूंगा। [छायाएं प्रस्थान करती हैं। सत्यपुरुष सौम्य हंसी हंसता है। बाएं हाथ के कमण्डल से जल के छींटे मार कर हरिश को होश में लाता है] जागो हरिश ! जागो ! बहुत सो लिये ! [हरिश की होश में आने की गति]

सत्यपुरुष—हां......! बहुत सो लिये हो ! देखो ! तुम्हारे समक्ष हूं मैं......सत्यपुरुष ! उठो तो !

हरिश—[बैठता हुआ] आप ! आप कौन हैं ?

सत्यपुरुष—मैं सत्यपुरुष हूं..... ! तुम्हारा एकमेव शुभचिंतक।

हरिश—[विस्मय से] सत्यपुरुष ?

सत्यपुरुष—हां ! तुम्हारी तपस्या, तुम्हारी साधना से देव बहुत प्रसन्न हैं। मुझे स्पर्धा हो रही है। [हरिश अवाक देखता है] तुम्हारी अवाक मुद्रा......तुम्हारी मानसिकता का प्रतिबिम्ब है। तुम, केवल इतना जानो कि तुम्हारी गति, तुम्हारी सत्य निष्ठा और धर्म निष्ठा शीघ्र ही सफल होगी। यातनाओं का अंत......तुरंत निश्चित है।

हरिश—[तनिक आश्वस्त] यातनाओं का अन्त......तुरंत निश्चित है ?

सत्यपुरुष—हां ! संसार तुझे सत्यवादी हरिश्चन्द्र के नाम से जानता आया है। तुम युगों युगों तक सत्य और धर्म के पर्याय रहोगे। तुम्हारा मन्त्र शाश्वत है।

हरिश—[सांत्वना अनुभव करता हुआ] सत्यम् वद्, धर्मम् चर !

सत्यपुरुष—तुम्हारे इस मंत्र में इतनी शक्ति है कि एक बार ही आह्वान करके देखना...... तुम्हारी पत्नी तारा और पुत्र रोहित......साश्चर्य जीवित हो उठेंगे। [हरिश, तारा तथा रोहित की ओर देखने लगता है] सत्यमेव जयते ! सत्यमेव-जयते। [प्रस्थान के बाद भी 'सत्यमेव जयते' कुछ पल चारों ओर गूंजता रहता है]

हरिश—[तारा तथा रोहित पर सूक्ष्म दृष्टिपात करता हुआ] सत्यम् वद्, धर्मम् चर। सत्यम् वद्, धर्मम् चर।

[तारा तथा रोहित आंखें मलते हुए उठ खड़े होते हैं और मुस्काने लगते हैं। साश्चर्य प्रफुल्लित हरिश बारी-बारी सम्बोधन करता है]

रानी......! पुत्र रोहित ! तारा......! रोहित !

[रोहित आगे बढ़ कर हरिश की टांगों से चिपक कर उसकी मुख मुद्रा नीहारने लगता है।]

तारा—आज आप बहुत प्रसन्न हैं स्वामी ? ऐसा लगता है......समस्त अयोध्या आपके अधीन हो आई है।

हरिश—[रोहित को परे कर के, करुण] समस्त अयोध्या ! हां ! कभी तो वह मेरे अधीन

ही थी। [सहसा] नहीं, नहीं तारा। अयोध्या कदापि मेरे अधीन नहीं थी। तुम्हें भ्रांति हुई है।

रोहित—आप अयोध्या नरेश तो थे पिता जी !

हरिश—[रोहित को उठा कर सीने से लगाता है] नहीं पुत्र ! न मैं नरेश था और न ही अयोध्या मेरे अधीन थी !

तारा—स्वामी......?

हरिश—सत्य यही है, तारा !

तारा—यह कैसा सत्य है आपका, स्वामी ?

हरिश—[रोहित को गोदी से उतार कर] अचरज ! भारी अचरज हो रहा है। हरिश की सहधर्मिनी अभी तक इतना भी नहीं जान पाई कि उसका सहधर्मी स्वयं अयोध्या के अधीन था। अयोध्यावासी उसके अधिपति थे।

[मौन]

तारा—स्वामी ?

हरिश—हां, तारा ! हरिश्चन्द्र अयोध्यावासियों के लिये था, अयोध्या के लिये था।

रोहित—जन समुदाय तो आपही को महाराज कह कर सम्बोधित करता था। आपही के नाम की जयघोषणाएं हुआ करती थीं।

हरिश—[विचलित] महाराज......? जय घोशणाएं ? [रोहित के गाल थपथपा कर] तुम अभी छोटे हो पुत्र ! तुम क्या जानो......वही महाराज शब्द और जयघोषणाएं अब विश्वामित्र महोदय के लिये हो रही होंगी। धन्य हो विश्वामित्र !

तारा—निःसंदेह स्वामी ! किन्तु,......

हरिश—किन्तु क्या तारा ?

तारा—विश्वामित्र के लिये कुछ भी हो रहा होगा किन्तु अयोध्यावासी तो आपही को सत्यवादी मानते हैं।

हरिश—[हल्की हंसी के बाद] तुम क्यों भूल जाती हो तारा ? विश्वामित्र महोदय का अपना सत्य है और हमारा अपना सत्य है। जो उन्होंने उचित समझा उन्होंने किया। जो हमने सत्य जाना हमने किया। हां ! और हां तारा। धैर्य रखो। सत्य के मार्ग पर मेरे साथ चलती आओ। चलती आओ।

[मौन] आओ हम भगवान को पूर्ववत् धन्यवाद दें। [हरिश और तारा घुटनों के बल बैठ जाते हैं। पास ही हाथ जोड़े पुत्र 'रोहित' खड़ा हो जाता है। तीनों एक साथ] हे प्रभो ! तुम्हारा कोटि-कोटि धन्यवाद कि हमारा अस्तित्व इस स्थिति में तो है। हमें शक्ति दो कि सत्य के मार्ग पर निर्बाध बढ़ते जाएं। तुम्हारी कृपा की आकांक्षा है। तुम्हारा आशीर्वाद हमें प्राप्त हो। प्रणाम ! प्रभो को हमारा प्रणाम ! [नतमस्तक]

सत्यपुरुष—[प्रवेश] सत्य ही आपका प्रभु है। सत्य सदैव विजयी होता है। सत्यमेव जयते ! [सत्यमेव जयते कहते हुए प्रस्थान]

तारा—यह कौन स्वामी ?

हरिश—सत्यपुरुष !

तारा—कौन सत्यपुरुष ?

हरिश—आते जाते ढारस बंधा जाता है। देवप्रिय है [विशाक्त का प्रवेश। हरिश, तारा तथा रोहित उसकी ओर आश्चर्य से देचते हैं।]

विषाक्त—आप किसकी बातें कर रहे हैं? सत्यपुरुष की ?

हरिश - आपका परिचय ?

विषाक्त—मुझे नहीं पहचाना। [मुखौटा उतारता है] पहचानते भी कैसे ? [तारा तथा रोहित तनिक पीछे हट जाते हैं] मैं आपका शुभचिन्तक हूं। मैं विषाक्त हूं।

हरिश—(क्षुब्ध) तुम फिर क्यों आये ?

विषाक्त—[हंस कर] यही चेत कराने आया हूं कि जिसे आप सत्यपुरुष कहते हैं, वह एक धोखा है, फरेब है।

तारा—[मुंह में अंगुली दबा कर] धोखा है ? सत्यपुरुष एक धोखा है ? फरेब है ?

विषाक्त—हां ! उसने आप जैसे कइयों के जीवन के साथ खिलवाड़ किया है।

रोहित—यह क्या कह रहे हैं, पिता जी !

विषाक्त—अभी तू छोटा है बेटे ! तू नहीं समझ सकता। [हरिश से] हां, तो हरिश ! मैं फिर यही कह रहा हूं कि उस छलिये सत्यपुरुष के झांसे में आने से बचें। वह परले दर्जे का ढोंगी है। [हरिश आवेग में आने लगता है किन्तु सम्भल जाता है] आना है तो मेरे साथ आएं। मिल कर काम करें।

तारा—मिल कर काम ?

विषाक्त—हां ! मैं विष का व्यापारी हूं।

तारा—विष के व्यापारी ?

हरिश—तारा ! गत एक जन्म में हमें उसके आगे बिकना पड़ा था......विश्वामित्र को दक्षिणा दे पाने के उद्देश्य से। आज की विडम्बना यह है कि विश्वामित्र हमें नहीं बता रहे कि हम क्या करें। अज्ञात कारण ही यातना है। और यह लोग हमें खरीदने आ रहे हैं।

विषाक्त—मैं किसी को खरीदने या बेचने नहीं आया। मैं एक साथी चाहता हूं। आप को मैं उचित पात्र समझता हूं क्यों कि आप अधिकारी हैं जीवन के। मैं विष बेचा करता हूं और अमृत हासिल किया करता हूं। मिलावट के धंधे में लाभ ही लाभ है। सब से आसान धंधा ! [हंसता है]

चौरंगा—[हंसते हुए प्रवेश। देखते ही हरिश की खीझ बढ़ती है।] और अगर विषाक्त का धंधा पसंद न आए तो मेरे साथ आएं। मैं किसी को विष नहीं देता। मेरे धंधे में कोई मिलावट नहीं। [हरिश की मुद्रा संतुलित होने लगती है] मेरा धंधा चलने

फिरने का है। करना है तो बस इतना......इधर का माल उधर और उधर का माल इधर। पांच लगाओ, दस कमाओ......दस लगाओ, बीस कमाओ।

हरिश—[क्रोध में] चौरंगा......?

चौरंगा—कहिये हरिश !

हरिश—अपने भ्रष्ट प्रस्तावों से तुम मुझे क्यों बार-बार विह्वल करते हो ? तुम्हें मालूम है कि मैं सहमत नहीं हो सकता।

चौरंगा—सोच लीजिये !

हरिश—असम्भव ! मैं देशद्रोह नहीं कर सकता। कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता।

चौरंगा—लगता है सत्यपुरुष ने अपने पंजे अच्छी तरह जमा लिये हैं।

विषाक्त—उसका प्रभाव पक्का हो चुका है।

बाणक—[खुशी से दोनों हाथ फैला कर प्रवेश] चौरंगा और विषाक्त पहले से यहां हैं। दोनों को बाणक का नमस्कार !

विषाक्त तथा चौरंगा—नमस्कार !

विषाक्त—हरिश को हम बहुत समझा चुके। इन्हें हमारा एक भी प्रस्ताव स्वीकार नहीं।

चौरंगा—हां ! बिल्कुल नहीं।

बाणक—हूँ...... ! तो यों है। [हरिश से] देखिये हरिश ! हम आपके वैरी नहीं, सज्जन हैं। [हरिश आंखें बंद किये जैसे सब कुछ अनसुनी कर रहा हो। रोहित प्रस्थान करता है तथा तारा एक ओर बैठ कर चिन्तित-सी सब को बारी-बारी देखती है]

बाणक—घबराइये नहीं, हरिश ! हमारा कोई न कोई प्रस्ताव आप मान ही लें। इसीलिये हम बार-बार आपके पास आते हैं। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण हमारा ध्येय है।

विषाक्त तथा चौरंगा—बाणक आपको ठीक ही सलाह दे रहे हैं हरिश !

विषाक्त—आपको चाहिये कि हम में से......।

बाणक—मेरा धंधा सीधा और सरल है। मेरे पास अन्न के तथा दूसरी चीज़ों के भण्डार हैं। आप सहमत हो जाइये। मेरे धंधे से सरल कोई धंधा नहीं है।

हरिश—सरल धंधा ! तुम्हें मेरी, मेरी तारा की, मेरे रोहित की ही चिन्ता क्यों हो रही है। देश में अनेक ताराएं और रोहित और भी तो हैं। आप कुछ न करें। केवल अपने यह दूषित धंधे त्यागने की कृपा करें। सब समस्याएं सुलझ जाएंगी। (श्वास) बापू के इस देश में यह सब शोभा नहीं देता। बिलकुल शोभा नहीं देता।

विषाक्त—आप तो भाषण देने लगे, हरिश !

चौरंगा—हमें आप जैसे भाषण दाता भी चाहियें।

बाणक—किन्तु ऐसे भाषणदाता जो हमारे जगाए प्रश्नों को बलपूर्वक प्रस्तुत कर सकें। चिंगारी यहां लगे और लपटें दूसरी जगह से उठें।

हरिश—[बौखला कर] जाओ, चले जाओ। मेरी मति न भ्रष्ट करो। जाओ ! चले जाओ...! [शांत होता हुआ] सत्यम् वद, धर्मम चर ! सत्यम् वद, धर्मम् चर !

जीवांतक—[अनुकरण की मुद्रा में प्रवेश] सत्यम् वद, धर्मम् चर ! सचमुच कितना पावन मन्त्र है यह। सत्यम् वद, धर्मम् चर।

हरिश—[शांत] हां......! बहुत ही पावन !

जीवांतक—[अट्टहास] हां......हां ! बहुत ही पावन मन्त्र है ! बहुत ही......पावन ! [व्यंग्य] चिपके रहिये। और चिपके रहिये इसके साथ ! फिर देखिये।......आपके लिये आदर-मान, सत्कार, यश के द्वार ठांव-ठांव पर खुले रहेंगे। आपको गढ़े से उठा कर टीले पर बिठाने की व्यवस्थाएं की जाएंगी। हर स्थान पर आप की कृपा की अपेक्षा रहेगी। समाज आपकी सौगंध तक नहीं खाएगा। (हरिश झुंझला रहा है) लेकिन आपके भीतर झांकने की कोशिश कभी नहीं करेगा। दो कौर खाने को मिले अथवा नहीं ? आप मर भी जाएं तो भी किसी को कोई फर्क नहीं महसूस होगा।

विश्वास अगर न हो तो हरिश सोचें ! समझें। आप ही की तारा क्यों आपसे पूछने के लिये विवश हो जाती है—'यह कैसा सत्य है स्वामी ?......'सत्य क्या है स्वामी ?'

और तो और अपने रोहित की आंखों में झांकते रहा करें। कई बार आपको लगेगा कि वह विवश हो कर आपको मन ही मन कोस रहा है। आखिर यह विवशता क्यों उभरती है ? इस का क्या कारण है ? सोचें हरिश, सोचें !

हरिश—[झुंझलाहट में] बन्द करो अपने यह कुत्सित विचार। चले जाओ यहां से।

जीवान्तक—(शांत) इतना याद रखें हरिश। यह संसार दूसरों को सच के लिये प्रेरित करता है। और जब कोई सच का मार्ग अपना लेता है तो उसे पानी के घूंट तक के लिये भी नहीं पूछा करता। [झुंझला कर हरिश दूर हट जाता है। कानों में अंगुलियां ठोंस कर घुटनों के बल बैठ जाता है।]

जीवांतक—इतना अभिमान ? यह सब शोभा नहीं देता हरिश ! [तारा उठकर हरिश को बाहर ले जाना चाहती है] बोलें ! बोलें हरिश ! बोलें कि आपने हमारी बात मान ली। आप हमसे सहमत हो गये। [घोर उलझन में खीझा हुआ हरिश्चन्द्र खड़ा हो जाता है।—इधर से उधर घूमता हुआ कभी हाथ मलता है और कभी हाथों से कानों को ढांप लेता है] यह रहे विषाक्त। यह रहे चौरंगा। यह रहे बाणक। और यह रहा मैं : जीवांतक जो कभी किसी को सांस पहचानने तक का अवसर नहीं देता। कहिये......किसका साथ देंगे आप ? यह बिल्कुल न भूलें कि सत्यपुरुष एक ढोंग का नाम है। छल का नाम है। वहम का नाम है। [हरिश का शरीर थर-थर कांपने लगता है। एक ठूंठ के सहारे खड़ा हो कर सिर थाम लेता है। लाचार-सी तारा मटके में जल टटोलती है। निराश हो कर पास ही से पिलाने के लिये जल भर लाती है जो कतरा-कतरा बह जाता है। करुण-सी उसे नीहारती है]

तारा—[सहसा आगे आकर] आप इन्हें विचलित क्यों कर रहे हैं। चले जाइये यहां से। आप जाते क्यों नहीं ? चले जाइये यहां से।

विषाक्त—क्षमा कीजिये।

बाणक—क्षमा कीजिये हमने आपका जी दुखाया है।

हरिश्चन्द्र—[ऊंचे स्वर में] सुना नहीं तारा क्या कह रही है। जाइये। चले जाइये यहां से। [विह्वल] इतनी बार कह चुका हूं, समझा चुका हूं कि मुझे बहकाने के सब यत्न व्यर्थ हैं। [वि० बा० चौ० जी० आपस में फुसफुसाने लगते हैं] मुझे एकांत चाहिये। मुझे एकान्त दे दो।

वि० बा० चौ० जी०—हम जा रहे हैं।

चौरंगा—(जाते हुए) विवेक से काम लें, हरिश! [प्रस्थान]

विषाक्त—अवसर मिलने पर हम आपका निर्णय जानने के लिये फिर आएंगे। [प्रस्थान]

जीवान्तक—सत्यपुरुष को भूल जाएं हरिश! वह ढोंगी है। छल है। वहम है।......शुभ विदा। [प्रस्थान]

[विह्वलता से शांति की ओर बढ़ता हुआ हरिश चारों ओर नीहारता है। फिर ठूंठ के सहारे बैठ कर अम्बर में आंखें गाढ़ देता है। पास ही खड़ी तारा ठूंठ के छिलके तोड़ तोड़ कर फैंकती है। धीरे-धीरे हरिश को नींद आ जाती है। तारा उठ कर खिन्न-सी उसकी ओर देखती है और प्रस्थान करती है। मौन वातावरण में संगीत की लहरें उभर कर फैल जाती हैं। एक आधुनिका प्रवेश कर हरिश के पास खड़ी हो विभिन्न मुद्राओं में हसती-खिलखिलाती है। बीच-बीच में उसे गुदगुदाने के असफल यत्न करती है। फिर किसी गीत का आलाप करती हुई हरिश के सिर में अंगुलियां फेरती है। जैसे ही हरिश की नींद टूटने लगती है वह आलाप करती हुई नेपथ्य में चली जाती है।

हरिश—[जाग कर] अहा! हा! कितना मधुर! कितना रसीला आलाप! तारा को आज एक युग के पश्चात ऐसा आलाप करते सुन रहा हूं। समस्त टूटन जैसे समाप्त हो गई। आज, सहसा कहां से तारा को सूझ गया यह? [सुन कर] अहा! हा!......[आवाजें] तारा! तारा! [आलाप जारी रहता है। हरिश उठ कर पीछे जाता है। तभी हंसी के स्वर और फिर आलाप। नेपथ्य से आधुनिका का मंच पर प्रवेश। जैसे ही हरिश प्रवेश करता है वह खिलखिला कर हंसती है। वह उसे देख कर स्तब्ध रह जाता है। कुछ पल पश्चात] तुम कौन हो? [आधुनिका हंसती है] तुम्हारे यहां आने का प्रयोजन? और मुझे इस प्रकार......

आधुनिका—मेरी ज़रूरत नहीं क्या?

हरिश—छी-छी-छी......। कैसी बातें करती हो?

आधुनिका—बातें नहीं, सच कहती हूं।

हरिश—बन्द करो यह सब? कौन हो तुम?

आधुनिका—वही जिसने विश्वामित्र का तप भंग किया था।

हरिश—मेनका?

आधुनिका—हां! मैं हर युग में विश्वामित्र का तप भंग करती आई हूं। जितने जन्म विश्वामित्र के हुए, उतने ही मेरे और आपके। बोलो! है मेरी ज़रूरत।

हरिश—तुम्हें किसने भेजा यहां।

आधुनिका [हंसती हुई हरिश के गिर्द चक्कर काटती है। स्पर्श करने लगती है। हरिश पीछे हट जाता है।] हाय रे दैया ! हाथ भी नहीं लगाने देते। हाथ लगाने से क्या होता है ?

हरिश—तुम्हें यहां से चले जाना चाहिए।

आधुनिका—न जाऊं तो ?

हरिश—मैं तुम्हें निकाल दूंगा।

आधुनिका—[हंस कर] आप ? हाथ छू जाने से जो घबरा जाएं वह हरिश। वह हरिश मुझे निकाल देंगे। ठीक है। मुझे स्वीकार है। निकालिये। [हंसती हुई हरिश की ओर बढ़ती है। हरिश पीछे हट जाता है] बस ! हार गये न... ?

हरिश—तुम चाहती क्या हो ?

आधुनिका—हाय री दैया। मैं भला क्या चाहूं ? (श्वास) आप मेरी कलाई पर हाथ फेरें—देखें कितनी कोमल है। एक बार मेरी आंखों में आंखें डाल कर देखें—कितनी गहरी हैं। एक बार मुझे मेरा सिर अपने कंधों पर सहला लेने दें...और बस ! अगर हो सके तो मुझे अपना सिर गुदगुदाने दीजिये। उसके बाद मैं अपने आप चली जाऊंगी।

हरिश—मेनका... ?

आधुनिका—[हंसती है]

तारा—[नेपथ्य में] रोहित ! रोहित !

रोहित—[नेपथ्य में] आया मां।

तारा—[नेपथ्य में] जल्दी आओ पुत्र !

आधुनिका—अच्छा, अब तो मेरा जाने का समय हुआ चाहता है। क्योंकि मैं आप के और तारा जी के मध्य कोई भ्रांति खड़ी नहीं करूंगी।

हरिश—जाओ ! जल्दी जाओ।

आधुनिका—तारा जी शायद इधर ही आ रही हैं। [प्रस्थान]

हरिश—शुक्र है।

[कुछ ही समय पश्चात जैसे ही हरिश चैन का सांस लेना चाहता है—बहुत दूर कहीं से पास आते हुए वृद्ध पुरुष की व्यंग्यात्मक हंसी के स्वर सुनाई देते हैं। दौड़ता हुआ रोहित आकर हरिश का दामन थाम कर बाएं हाथ से बाहर की ओर सकेत करता हुआ उसके मुंह की ओर मूक किन्तु त्रस्त अवस्था में देखता है। इसी बीच तारा का घबराई मुद्रा में प्रवेश।]

तारा—यह कौन है स्वामी ? कैसी हंसी है यह ? [वृद्ध पुरुष की हंसी के स्वर मंच के आस-पास सुनाई देने लगते हैं। हरिश खड़ा हो जाता है। रोहित अपनी मां से जा चिपकता है।]

तारा—यह हंसी कैसी है स्वामी ?

हरिश—स्वर से तो विश्वामित्र जान पड़ते हैं ?

तारा – विश्वामित्र ?

विश्वामित्र—[नेपथ्य से] ठीक पहचाना हरिश ! मैं जन्म-जन्म से तुम्हारे साथ जुड़ा हुआ विश्वामित्र ही हूं। मुझे तुम पर दया भी आती है। हां ! इस समय मैं केवल इतना भर चेत कराने आया हूं......इस जन्म में विजय तुम्हारी न हो पाएगी। इस की मुझे प्रसन्नता हो कि न हो किन्तु खेद अवश्य है। तुम शायद मेरा आशय नहीं समझ पाए। (विराम) यह युग तुम्हारे सत्य का नहीं है।

हरिश—तो फिर ? फिर यह व्यंग्यात्मक हंसी किस लिये ? आप सामने क्यों नहीं आते ?

विश्वामित्र—[व्यंग्यात्मक हंसी के साथ-साथ प्रस्थान] तो फिर.. ... ? तो फिर...... तो फिर यह व्यंग्यात्मक हंसी किस लिये ?

हरिश—[जिज्ञासात्मक सम्बोधन के साथ प्रस्थान] विश्वामित्र महोदय ! विश्वामित्र महोदय ! [पीछे-पीछे रोहित तथा तारा का प्रस्थान। —अंतराल सूचक अंधकार के बाद—पहले से भी अधिक क्षीण दशा में हरिश, तारा तथा रोहित का प्रवेश। हताश-सा हरिश विशाल पत्थर के सहारे गर्दन झुकाए बैठ जाता है। तारा भले ही टूटने की अवस्था में है तथापि सामने बैठ कर उसका चेहरा देखती हुई उसकी टांगें दबाने लगती है। रोहित एक ओर खड़ा रहता है।

रोहित—[कण्ठावरुद्ध-सा] बहुत भूख लगी है पिता जी ! [मां का कंधा पकड़ कर] बहुत भूख लगी है मां।

तारा—[भारी स्वर] धीरज धरो पुत्र !

हरिश—हां पुत्र ! धीरज धर। तुम्हारी माता ठीक ही कह रही है।

तारा—[निराश] तीन दिन बीत गये कुछ भी खाए ! [रुष्ट-सी] तीन दिन बीत गये धीरज करते-करते। यों कब तक......

हरिश—रुष्ट न हो तारा ! तुम रुष्ट हो जाओगी तो अपना क्या होगा ? [एक टांग सीधी लिटाए रख कर दूसरी इकट्ठी कर लेता है]

रोहित—बहुत भूख लगी है पिता जी। [हरिश के पास बैठ जाता है। रुआंसी हो उठी तारा प्रस्थान करती है। हरिश रोहित के सिर पर हाथ फेरता और उसके गाल थपथपा कर मुस्काने का यत्न करता है ताकि वह भी मुस्काए। कुछ ही समय पश्चात् तारा आंचल में बटोर कर कुछ लाती है और रोहित के आगे रखती है]

तारा—[झुकी-झुकी दुख द्रवित-सी] खा ले, खा ले ! यह भी दुर्लभ हैं। [रोहित की पीठ थपथपाती है। वह खाने लगता है। खाई नहीं जा रही हैं इस लिये यत्न से कौर-कौर कर खा रहा है]

हरिश—अब थपकियों के अतिरिक्त हमारे पास है ही क्या ?

तारा—स्वामी ? जब आप जानते हैं कि हमारी यह दशा क्यों हुई तो उपचार क्यों नहीं करते ?

हरिश—[श्वास] हूं...ऽ... ?

तारा—हम आप के सहगामी कितनी बार जीते ? कितनी बार हारे ? कितनी बार मरे ? कितनी बार जिये ? जाने क्या-क्या कितनी-कितनी बार भोग चुके ? जन्म-जन्मांतर टूटते रहे, जुड़ते रहे, बिकते रहे ! क्या यही नियति है हमारी ?

हरिश—नियति ! हां, नियति !

तारा—इस जन्म भी हमारी यह दशा ? भूख, प्यास, टूटन और चिथड़ापन ! इस प्रकार कब तक चलना होगा स्वामी ? कब तक ?

हरिश—जब तक शिराओं में रक्त संचार होता है। जब तक श्वास में गति है। जब तक सूर्य में गरिमा है। जब तक शब्दों में स्वर हैं और अर्थ हैं।

तारा—आप यह क्यों भूल रहे हैं स्वामी कि आज शब्दों की धारा मुड़ रही है ? उनके अर्थ बदल रहे हैं ?

हरिश—[धक-सा] यह, यह तुम कैसी बातें कह रही हो ? यह असम्भव है, असम्भव !

तारा—क्या सम्भव है और क्या असम्भव ? अब तो...अब तो मुझे...मुझे यह चिन्ता भी सताने लगी है कि कहीं आप का संग...बीच में ही न छोड़ दूं।

हरिश—[एक दम खड़ा हो जाता है] तारा !...ऐसे वचन न कहो तारा ! तुम्हीं तो मेरी शक्ति हो। मेरे सत्य का सम्बल तुम्हीं तो हो। [रोटी खाकर रोहित खपरैल के अन्दर चला जाता है। हरिश उसको जाते देखने के बाद] तारा ?

तारा—हूं !

हरिश—रोहित के लिये रोटी कहां से लाई थीं तुम ?

तारा—कुछ सूखी भूसी बची पड़ी थी। उसी से बनाई है ?

हरिश—[धक-सा] और उसने खा डाली ! मेरे पुत्र ने खा ली। [दीर्घ श्वास] पेट की आग बुझाने के लिये...जीवन की रक्षा के लिये खानी ही पड़ी।

तारा—स्वामी ?

हरिश—हूं...!

तारा—यही तो मेरे दुख की चर्म सीमा है।

हरिश—चर्म सीमा ! [तारा की ओर देखता हुआ] यह तुम्हारे दुख की चर्म सीमा है, तारा ! चर्म सीमा तो तब होगी जब......

तारा—[दुख से प्रस्थान करते रुक कर] जब आप की धारणाएं, आप के विश्वास, आप की आस्थाएं, आप की परिभाषाएं हमारा गला घोंट चुकी होंगी। [खपरैल के भीतर प्रस्थान]

हरिश—[पुकारता है] तारा ! तारा ! तारा ! [स्वयं भी जाने लगता है] सुनो तो तारा ! [रुक कर पत्थर पर बैठ जाता है] दुख की चर्म-सीमा तो एक शुभ लक्षण है तारा ! अब तो दुख का पतन आरम्भ होगा और एक दिन तुम सुखी हो जाओगी ! [कुछ ही पल पश्चात् मेघ छा जाते हैं। गर्जना के साथ-साथ बिजली चमकने लगती है। हरिश चिन्तित हो उठते हैं। खपरैल के भीतर से आकर तारा चिन्तित बातचीत का अभिनय करके

इधर-उधर दौड़ती है और भीतर चली जाती है। रोहित खपरैल के बाहर आकर मेघों का दृश्य देखने में लीन है। हरिश आगे बढ़ कर छत की घास फूस ठीक करने लगते हैं। तारा भी बाहर आकर उसका हाथ बटाने लगती हैं]

तारा—घनघोर घटाएं चोरों की भांति न जाने कहां से आ गईं ?

हरिश—चोरों की भांति आने-छाने वाली घटाएं कम ही बरसा करती हैं, तारा।

तारा—बरस गईं तो बैठने को स्थान नहीं मिलेगा। बाहर जितना जल थल होगा उस से कई गुणा भीतर खपरैल में होगा।

हरिश—[सांत्वना देता हुआ हंस कर] तुम भी कैसी बातें करती हो तारा। उस भांति के बादल कई बार आए और कभी बरस कर और कभी बिन बरसे ही चले गये। अब हम इन गर्जनाओं को क्या जानें। [तेज़ हवा चलना शुरू हो जाती है]

तारा—प्रकृति का यह कोप ? वायु भी अपना बल दिखाने लगे।

हरिश—यह कृपा ही समझो तारा। चोर मेघों की असफलता स्पष्ट हो गई। [पुकार कर] रोहित ?

रोहित—जी, पिता जी ?

हरिश—चल कर भीतर बैठो। ज्वर हो जाएगा। [रोहत हट कर खपरैल के द्वार पर खड़ा हो दृश्य देखने लगता है। कुछ ही पल पश्चात तारा बड़बड़ाती हुई आती है]

तारा—जाने कौन-से पाप का फल भोग रहे हैं हम ? खपरैल का सुख भी नहीं मिल पाता। [रोहित को अपने साथ भीतर ले जाती हुई] हे प्रभो ! दया करो हम पर। [भीतर से सोचती हुई फिर बाहर आ जाती है और एक ठूंठ के पास खड़ी हो जाती है।

कुछ ही देर में सभी कुछ लगभग ठीक हो जाता है। धीमी हवा चल रही है। हल्की-हल्की चमक के साथ कभी-कभी मेघ की गर्जना सुनाई दे जाती है। ब्रीफ-केस उठाए हुए जीवांतक का प्रवेश]

जीवांतक—हरिश को जीवांतक का नमस्कार !

हरिश—[सहसा] नमस्कार ! [दुविधा में] आप ?

जीवांतक—हां, मैं आप का याचक, जीवांतक ! आप के लिये एक नयी व्यवस्था लेकर आया हूं। [तारा विचलित होने लगती है]

हरिश—मैंने कह दिया है कि......

जीवांतक—यह नयी व्यवस्था आप के जीवन में बहार ले आएगी। [ब्रीफ-केस खोलने लगता है कि रुक जाता है] आज्ञा हो तो दिखाऊं ?

हरिश—मैं किसी नयी व्यवस्था को वहन नहीं कर सकता। आप की चेष्टाएं व्यर्थ हैं। भला इसी में है कि आप यहां से चले जाएं।

जीवांतक—आप युग से बहुत ज्यादा पिछड़ चुके हैं, हरिश। [ब्रीफ-केस खोल कर दिखाता है। जगमगाती वस्तुओं की किरणें इधर-उधर बिखरती हैं] ये सब आपका ... अपना हो सकता है हरिश ! हमारे किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार करलें।

सत्यपुरुष—[नेपथ्य से] सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते ! [हरिश मुस्काता है । यह स्वर केवल उसने सुना है]

जीवांतक—समय आप का दास बन जाएगा हरिश ! आपका बाकी जीवन सुख की हर सुविधा के साथ बीतेगा । [ब्रीफ-केस एक ओर रखता है]

आधुनिका—[एक पैकट उठाये मुस्काते हुए प्रवेश]

हरिश—मेनका...?

आधुनिका—हां ! मेरा आना अच्छा नहीं लगा क्या ? [अवाक तारा कभी एक को तो कभी दूसरे को देखती है । कुछ कर गुज़रना चाहती है किन्तु बे-बस सी है]

हरिश—तुम यहां क्यों आई ?

आधुनिका—[हंसती हुई] नाराज़ क्यों होने लगे आप ? [पैकट आगे बढ़ाती है]

हरिश यह क्या है ?

आधुनिका—आप की तारा जी और पुत्र रोहित के लिए कुछ भेंट लेकर आई हूं। कहां हैं वह ?

हरिश—स्पष्ट क्यों नहीं कहतीं कि जीवांतक की भांति तुम भी लोभ-लालसा का जाल बिछाने आई हो ।

आधुनिका—[हंसती है] जाल बिछाने आई हूं ।

हरिश—लेकिन यह मत भूलो कि हरिश इन माया जालों में उलझने वाला नहीं ।

आधुनिका—मुझे तो हमारे मालिक महामहिम सर्वराज ने यहां भेजा है । वे खुद भी आपका निर्णय जानने के लिये यहां आ रहे हैं ।

[सुनते ही हरिश एक घुटन भरी खीझ महसूस करने लगता है । आधुनिका पैकट को एक ओर ब्रीफ-केस के पास रख देती है]

जीवांतक—महामहिम सर्वराज के आने तक आप सोच सकते हैं, हरिश । आप को सहमत होना ही पड़ेगा । [हरिश की उपरोक्त गति तीव्र हो जाती है । कुछ पल पश्चात] लीजिए । वह आ गये हमारे मालिक महामहिम सर्वराज । इन्हीं के आदेशों से हमारी कार्य-प्रणाली काम करती है । (सर्वराज का प्रवेश)

जीवांतक—महामहिम सर्वराज महोदय को जीवांतक का प्रणाम !

सर्वराज—प्रणाम !

आधुनिका—आधुनिका का भी प्रणाम ! (सर्वराज के पास जा खड़ी होती है । सर्वराज और वह एक दूसरे को देख कर मुस्काते हैं)

सर्वराज—(हलकी हंसी के साथ) यह हम क्या देख रहे हैं जीवांतक ।

जीवांतक—यह हमारे आगमन की प्रतिक्रिया है महामहिम ! (हरिश सम्भलने का यत्न करता है)

सर्वराज—(हरिश से) क्यों हरिश ! इस जन्म भी राज-हठ आप के साथ है ?

हरिश—(सम्भल कर) आप का परिचय ?

सर्वराज—(हंसता है)

जीवांतक—(आगे बढ़ कर) यह हैं—जैसा कि हम पहले बता चुके हैं—हम सब के मालिक महामहिम सर्वराज! इन्हीं के आदेश से हमारी कार्य प्रणाली काम करती है।

आधुनिका—यह चाहें तो शांति की लहरें दौड़ा दें। यह चाहें तो उथल-पुथल मचा दें।

जीवांतक—इनके साथ समझौता करके आप का जन्म सफल हो जाएगा। जन्म-जन्म के अभिशाप धुल जाएंगे।

सर्वराज—(साभिमान) बस, बस! इतनी अधिक प्रशंसा न करो कि एक सत्यवादी को शर्मिन्दा होना पड़े। यह हमारे और हम इनके मित्र हैं। (हरिश से) क्यों हरिश, समझौते के लिये तैयार हैं आप ?

हरिश—कैसा समझौता, सर्वराज ?

जीवांतक—आदर से बात करें, हरिश ! सर्वराज नहीं, महामहिम सर्वराज कहें।

सर्वराज—(टोकता है) इन्हें कहने दो जीवांतक। जैसी हमारे मित्र की इच्छा हो, कहने दो। तुमने समझौते के बारे में इन्हें कुछ नहीं बताया क्या ?

जीवांतक—बताया है महामहिम ! बन्धुवर बाणक, चौरंगा और विषाक्त सभी ने इन से समझौते के लिये कहा है।

सर्वराज—हूं.. ! तो फिर क्या सोचा है आप ने हरिश ?

हरिश—मैं अपना निर्णय दे चुका हूं।

सर्वराज—ज़रा हम भी सुनें ! क्या निर्णय दिया है ?

हरिश—मैं आप के किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता।

सर्वराज—मैं यह क्या सुन रहा हूं ?

हरिश—सत्य ! सत्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

सर्वराज—निर्णय पर फिर से विचार करने के लिये कहूं तो ?

हरिश—व्यर्थ होगा।

सर्वराज—यदि मैं बल देकर कहूं कि आप को निर्णय बदलना होगा तो ?

हरिश—असम्भव !

सर्वराज—तो आप नहीं मानेंगे आखिर ? अपना निर्णय नहीं बदलेंगे ?

हरिश—सत्य कभी नहीं बदला करता। सत्य का अस्तित्व सदैव एक रूप रहता है, अटल रहता है।

सर्वराज—(क्रोध से) हरिश ! रोहित झोंपड़ी से बाहिर आकर सहमा-सा तारा के पास खड़ा हो जाता है)।

हरिश—सर्वराज ! सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग करने वाला हरिश किसी अस्थायी प्रलोभन के लिये पथ भ्रष्ट नहीं हो सकता।

सर्वराज—(क्रोध से) प्रलोभन स्थायी हो अथवा अस्थायी......मैं इस झमेले में नहीं पड़ना

चाहता। आप का सत्य एक दिन चूर-चूर होकर रहेगा और तब आप के लिये डूबने के सिवा कोई चारा न रहेगा।

हरिश—(हंस कर) डूबने के सिवा कोई चारा न रहेगा! ... पहले सत्य चूर हो, तब न। (आवेग में) सर्वराज! यह न भूलो कि सत्य एक ऐसा चुम्बक है जिस का खण्डन असम्भव है। खण्डन कर भी दिया जाए तो प्रत्येक खण्ड अपने में सम्पूर्ण चुम्बक रहता है।

सर्वराज—(सहानुभूति का ढोंग) बुद्धि से काम लें हरिश! हठ न करें। यों आप की दशा और भी क्षीण-क्षाम होकर शून्य में समा जाएगी।

हरिश—क्षीण-क्षाम! शून्य! (व्यंग्यात्मक हंसी के साथ) ये शब्द कहां से जाने हैं आपने? (आवेग में) सर्वराज! हरिश की दशा न कभी क्षीण-क्षाम हुई है और न कभी हो सकेगी। 'सत्य' हरिश की स्थायी पूंजी है। सत्य क्षीण-क्षाम होगा तो ही हरिश भी होगा। मेरे पास व्यर्थ गंवाने के लिये समय नहीं है। (तेज़ कदमों से प्रस्थान करता हुआ) आओ बेटा रोहित! तारा तुम भी आओ। इन्हें बैठने दो यहां। (रोहित के पीछे तारा भी जाने लगती है)

सर्वराज—(तारा से) ज़रा सुनिये तो! कृपया इतनी-सी बात सुन लें मेरी। फिर चली जाए।

तारा—(अनमनी-सी रुकती, बढ़ती है)

सर्वराज—कृपा होगी। सिर्फ एक बात कहना चाहता हूं।

तारा—(अनमनी-सी रुक कर) मेरे स्वामी बहुत हठी हैं। उनका सत्य महान है। संकल्प दृढ़ है उनका।

सर्वराज—(संकेत से जीवांतक को बाहर जाने के लिये कहता है। जीवांतक के पीछे आधुनिका भी चली जाती है) मैं हैरान हूँ।......आप को दुर्लभ मानव जन्म मिला है जो चौरासी-लाख जन्मों के बाद मिलता है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो हर तरह की सूझबूझ का मालिक है। अपना भला बुरा सोच सकता है। (तारा जाने लगती है) कम से कम रोहित के लिए रुक जाएं। मेरी बात सुनें। (तारा रुकती है) मुझे खेद है कि जब आप के पास हर तरह की सामर्थ्य है तो आप यों क्यों जीवन बिता रही हैं। आपके अन्दर एक मां का दिल धड़क रहा है। ममता क्या यही कहती है जो आप कर रही हैं। मां क्या इतनी कठोर हुआ करती है। ममता क्या यही सिखाती है जो आप कर रही हैं—बेटा, भूख के मारे बिलखता रहे और कुछ भी न किया जाए? कौन आप को मां कहेगा? यह बिलकुल न भूलें—एक तरफ आप हरिश जी की पत्नी हैं तो दूसरी तरफ एक मां भी हैं। आपको दोहरी भूमिका निभानी है। जागिये! आपको जागना चाहिये! रोहित आपका अनमोल रत्न है। उसी के लिये कुछ करें। देखा नहीं था आपने? वह ठीक से चल भी नहीं पा रहा था।

तारा—बस, बस! और कुछ न कहें! (अंतर्द्वन्द्व की मुद्राएं) किन्तु मैं कर ही क्या सकती हूं? मुझे क्या करना चाहिये?

सर्वराज—(व्यंग्य) वही जो आज तक करती आई हैं। अपने पति महोदय का कहा मानें। भूख और प्यास के मारे बिलखते हुए रोहित को देख-देख कर 'सत्य' के गुण गाएं।

तारा—नहीं-नहीं ! मुझे कुछ करना चाहिए ! आप अवश्य मुझे सुझाएंगे कि मैं क्या करूं ! हां ! आप मुझे अविलम्ब कोई उपाय सुझाएगे ! (उत्सुक जिज्ञासु मुद्रा)

सर्वराज—(तारा को पूर्णतया प्रभावित देख कर) सिर्फ अपने पति महोदय को समझाएं। एक बार परख कर लें......उनका रास्ता गलत है या जो हम कहते हैं......यह गलत है।

तारा—(अनमनी-सी) आप का कहना मान कर देखूं ?

सर्वराज—हां, एक बार ! सिर्फ एक बार। अपने लिये नहीं तो रोहित के लिए ही सही।

तारा—(चिन्तन) रोहित के लिये ? पर उन्हें समझाऊंगी कैसे ? स्वामी को कैसे समझाऊंगी ? मेरी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा।

सर्वराज—मेरे विचार में आप सब समझ गई हैं। (अवाक्-सी तारा सर्वराज की ओर देखती हुई पाषाणी-सी लगती है) सुना है नारी से बढ़ कर चतुर कोई नहीं हो सकता।...... अब देखना यह है कि राज हठ जीतेगा या नारी हठ। हम तो नारी हठ की जीत ही सुनते, पढ़ते और देखते आए हैं। (क्षणिक विराम) शायद आप मेरा मतलब समझ गई हैं ! हूं ?

तारा—किन्तु ! किन्तु...... ?

सर्वराज—आप के अन्दर मां का दिल धड़क रहा है। आप ममता का सागर हैं। मेरी शुभ कामनाएं आप के साथ हैं। (क्षणिक विराम) अच्छा......अब विदा का समय आ गया। विदा ! (प्रस्थान)

(अंतर्द्वन्द्व झेलती तारा की विभिन्न भावभंगिमाएं)

तारा—(सम्बोधन) सर्वराज ! आप का प्रस्ताव अत्यंत कठिन है। मैं किस प्रकार पालन कर सकूंगी उसका ? आप ने मुझे अग्नि परीक्षा में धकेल दिया है। कौन जाने क्या कुछ बीतने जा रहा है ? (विराम) स्वामी ? कहां हैं आप ? सुना नहीं आपने ? सर्वराज क्या कह रहा था ? नहीं-नहीं। सर्वराज कह रहे थे ? नहीं-नहीं ! महामहिम सर्वराज क्या कह रहे थे ! महामहिम सर्वराज !

सत्यपुरुष—(नेपथ्य से गूंजता हुआ स्वर) सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते !

सर्वराज—(नेपथ्य से गूंजते हुए हवा में) ममता क्या यही करती है जो आप कर रही हैं— बेटा भूख और प्यास के मारे बिलखता रहे।

तारा—नहीं, स्वामी नहीं ! मेरी ममता यह सब सहन करने में असमर्थ है। पूर्णतया असमर्थ ! मैं विवश हूं ! (एहसास) पर, पर सत्य का मार्ग भी तो सर्वोपरी है। मैं घोर पाप करूंगी जो अपने पति को पथ विमुख होने के लिये बाध्य करूंगी। उनका जन्म-जन्मों से अर्जित चिरंतन सत्य क्षण भंगुर प्रलोभन के कारण नष्ट कर दूंगी क्या ?...... स्वामी स्वाभिमान से कहा करते हैं...

हरिश—(नेपथ्य से 'ईको' में) सत्यम् वद, धर्मम् चर ! सत्यम् वद, धर्मम् चर ! सत्यम् वद, धर्मम् चर ।

तारा—(पूर्ववत) तब क्या हमारी दशा वास्तव में क्षीण-क्षाम हो जाएगी ? हां ! जब स्वामी का स्वाभिमान चूर-चूर हो जाएगा तो मेरा दर्प निरर्थक सिद्ध होगा। विश्वासघातिन के नाम से लांछित रहूंगी। (संकल्प) नहीं ! मैं ऐसी कभी न होने दूंगी। वर्तमान में ही मेरा पुण्य है, प्रताप है।

सर्वराज—(नेपथ्य से 'ईको' में) जागिये ! आपको जागना चाहिये ! रोहित आपका अनमोल रत्न है। उसी के लिये कुछ करें। देखा नहीं था आप ने ? वह ठीक से चल भी नहीं पा रहा था।

तारा—(व्याकुलता एवं उलझन में) रोहित ! मेरा पुत्र रोहित ! हां, हमारा अनमोल रत्न ! हमारा वंशज ! हमारा एक मात्र कुल-सूत्र रोहित ! महामहिम सर्वराज ठीक ही कहते थे। तन ढांपने को वस्त्र नहीं, भोजन का अभाव, भोजने को आतंक, घुटन ही घुटन...... अब मृत्यु के अतिरिक्त, भोगने-सहने को रहा ही क्या है ? परम यथार्थ यही सुझाता है......जीना है तो कुछ न कुछ करना होगा। मैं स्वामी को बाध्य करूंगी ! उन्हें विवश होना ही पड़ेगा। मैं उनकी अर्धांगिनी हूं। मैंने आज तक उनका कहा माना है। आज उन्हें भी मेरा कहा स्वीकार करना होगा। (बाहर की ओर आवाज़ें लगाती है) स्वामी ! स्वामी ! स्वामी !

सत्यपुरुष—(नेपथ्य से) सत्यमेव जयते ! सावधान ! सावधान तारा ! सावधान !

तारा—तुम ? त...त...तुम ?

सत्यपुरुष—सावधान तारा ! (प्रवेश) धीरज से काम लो।

तारा—तुम ? सत्यपुरुष ?

सत्यपुरुष—हां ! मैं ! तुम्हारे स्वामी का परम् मित्र !

तारा—अब तुम्हारा उपदेश निरर्थक है, सत्यपुरुष !

सत्यपुरुष—आज तुम दुष्ट सर्वराज के बहकावे में आ चुकी हो। उस दुर्जन ने तुम्हारी भावुकता का लाभ उठाया है। धीरज रखो। विजय तुम्हारे पति हरिश्चन्द्र की ही होगी। सर्वराज देशद्रोही है, राष्ट्रद्रोही है, हिंसक है।

तारा—माना कि तुम सत्य कह रहे हो। किन्तु हम जो हैं हमारे साथ कौन-सा न्याय किया है तुमने ? बोलो !

सत्यपुरुष—उतावली न हो जाओ तारा। अपने पति की तपस्या भंग मत करो। सत्य को हाथ से न जाने दो। सत्यमेव जयते !

तारा—सत्यमेव जयते, सत्यमेव जयते ! लौटा लो अपना यह मन्त्र ? लौट जाओ यहां से ! बहुत देख लिया और बहुत सह लिया। जानबूझ कर विष कौन पियेगा ? आंखों देख कर ज्वाला में कौन कूदेगा ?

सत्यपुरुष—[सौम्य हंसी के साथ] तारा ! सत्य यदि विष है तो ऐसा......जिसे पी कर

व्यक्ति नीलकंठ बन जाता है। सत्य यदि ज्वाला है तो ऐसी......जिसमें तप कर सोना शुद्ध हो जाता है, खरा बन जाता है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम !

तारा—हमें न तो नीलकण्ठ बनना है कि सत्यम् शिवम् सुन्दरम् कहलाने के भ्रम में गौरी शंकर की चोटी पर आवास ग्रहण करना पड़े और न ही खरा सोना बनने की इच्छा है जिससे सदा प्राणों पर बनी रहे। [आरोप] तुम एक छल हो ! तुम एक ढोंग हो ! तुम्हारे वचनों में अब कोई प्रभाव नहीं रहा। [प्रस्थान करने लगती है] मैंने जो संकल्प लिया है उसे चर्मलक्ष्य तक पहुंचा कर ही दम लूंगी। [प्रस्थान]

[प्रकाश मद्धिम हो जाता है]

सत्यपुरुष—विनाशकाले विपरीत बुद्धि !

विश्वामित्र—[कहकहे लगाते हुए प्रवेश] किसे चेता रहे हो, सत्यपुरुष ?

सत्यपुरुष—कौन ?

विश्वामित्र—हां, मैं ! देख रहा हूं आप निराश हुए जा रहे हैं।

सत्यपुरुष—आपको भ्रांति हो रही है, महामुनी !

विश्वामित्र—यह संध्या-सा प्रकाश आपकी मानसिक अवस्था का प्रमाण है।

सत्यपुरुष—प्रकाश की यह गति तो काल-सूचक है। महामुनी विश्वामित्र !

विश्वामित्र—काल-सूचक। [कहकहे लगाते हुए प्रस्थान...] काल-सूचक। काल-सूचक।

सत्यपुरुष—अंततः विजय मेरी होगी। विजय मेरी ही होगी। [सौम्य हंसी के साथ प्रस्थान]

[मंच पर पूर्ण अंधकार फैल जाता है। कुछ क्षण पश्चात् कालांतर सूचक उज्ज्वल प्रकाश फैलता है। कटु अनुभवों की प्रतीक लम्बी सफेद दाढ़ी बढ़ाए हरिश जिसके तन पर मैली कुचैली धोती है—घोर दुःखी और द्रवित मुद्रा में प्रवेश करता है। शोक-संतप्त धुन उभरी हुई है। एक ठूंठ के सहारे खड़ा होकर माथा ठोंकता है। दीर्घश्वास के साथ चारों ओर देखता है। फिर एक कोयला उठा कर सामने झोंपड़ी की दीवार पर 'तारा' तथा 'रोहित' के नाम लिख कर कुछ पल स्थिर मुद्रा में उनकी ओर देखता रहता है।]

हरिश—[शोकाकुल मुद्रा में सम्बोधन] तारा......! रोहित......! तारा ! रोहित ! तारा-रोहित ! [उसी कोयले से दोनों नामों पर × चिन्ह लगा कर काट देता है और गर्दन लटकाए एक ओर बैठ जाता है।]

सत्यपुरुष—[कुछ समय बाद नेपथ्य में] सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते ! [प्रवेश] सत्यमेव जयते ! [कुछ पल हरिश को नीहार कर] सत्यमेव जयते !

हरिश—[स्थिर मुद्रा। मौन]

सत्यपुरुष—[जल का छींटा मार कर] सत्यमेव जयते !

हरिश—[जल के छींटे की प्रतिक्रिया के बाद] कौन ? सत्यपुरुष ?

सत्यपुरुष—हां, मैं ! सत्यपुरुष !

हरिश—[खिन्न हंसी के साथ खड़ा हो जाता है] सत्यपुरुष !

सत्यपुरुष—आज मुझे अपने आगमन पर तुम्हारी गति से अभूतपूर्व अचरज हुआ, हरिश ! कहां खो गये थे ?

हरिश—दूर......बहुत......दूर, जहां से कोई भी लौटना न चाहे । आपने बहुत भूल की सत्यपुरुष ! [हरिश फिर से पूर्वोक्त मुद्रा में आता हुआ दीर्घश्वास के साथा] तारा !

सत्यपुरुष—हां, हरिश ! तारा और रोहित नहीं दिखाई दे रहे ! कहां हैं वे ?

हरिश—तारा ? पुत्र रोहित ? [काटे हुए नाम पहले स्वयम् देखता है फिर दाएं हाथ से संकेत करता हुआ रो उठता है] विदा हो गये । एक साथ छूट गये, सत्यपुरुष ! हरिश को, अपने हरिश को छोड़ गये । हां, सत्यपुरुष ! मुझे छोड़ कर दोनों चले गये ।

सत्यपुरुष—[दुःख से] त्-त्-त्......हरे हरे !

हरिश—नहीं ! वे मुझे छोड़ कर नहीं गए । वे...वे...तो...चिरंतन सत्य से वंचित होने से बच गये । हां ! वंचित होने से बच गये ।

सत्यपुरुष—सत्यम् शिवम् सुन्दरम् ! [कुछ पल मौन]

हरिश—एक बात कहो सत्य पुरुष !

सत्यपुरुष—क्या ?

हरिश—तुम सत्यपुरुष हो ?

सत्यपुरुष—हां, तो !

हरिश—कैसे सत्यपुरुष हो तुम ?

सत्यपुरुष—मैं तुम्हारा तात्पर्य नहीं समझा ?

हरिश—तुम्हारा सत्य कैसा है ?

सत्यपुरुष—सत्य सर्वव्यापक है । सत्य चिरंतन है, अनश्वर है । सत्य......

हरिश—[व्यंग्यात्मक हंसी]

सत्यपुरुष—इस हंसी का कारण ?

हरिश—मेरा प्रश्न यह नहीं था । मेरा प्रश्न था —तुम्हारा सत्य कैसा है ? जो भी हो...... यह बताओ......सत्य जो सर्वव्यापक है, सत्य जो चिरन्तन है, अनश्वर है......उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि उसी के कारण हरिश यहां-वहां भटक रहा है । उसका सर्वस्व छिन चुका है । तारा नहीं रही । रोहित नहीं रहा । कैसा सत्य है तुम्हारा ? कैसे सत्यपुरुष हो तुम ? तुम्हारी और तुम्हारे सत्य की सर्वव्यापकता का यही प्रमाण है क्या ?

सत्यपुरुष—लगता है तुम्हारा धैर्य छूट रहा है । तुम्हारा संबल टूट रहा है ।

हरिश—यह धैर्य और संबल का प्रश्न नहीं है, सत्यपुरुष ! मैं क्यों इस दशा को प्रप्त हुआ ? तुम्हारा मन्त्र इस बार क्यों तारा और रोहित को प्राण दान देने में असफल रहा ?

सत्यपुरुष—प्रत्येक अस्तित्त्व की एक मर्यादा होती है, एक निश्चित अवधि होती है जिसके चुक जाने पर......

हरिश—[हंसी के साथ] नहीं, सत्यपुरुष, नहीं ! मेरे प्रश्न का उत्तर यह नहीं है । मेरा प्रश्न,

मेरी जिज्ञासा है—मैं क्यों दिन-दिन टूटता रहा, चूर होता रहा। कहो, सत्यपुरुष कहो। जिस सत्यमेव जयते से, जिस सत्यम् वद, धर्मम् चर से मेरे विश्वास जुड़े हुए थे...... उसी ने मुझे क्यों आतंकित किया ?

सत्यपुरुष—हरिश...... ?

सर्वराज—[नेपथ्य से अट्टहास]

हरिश—तुम ? तुम कौन हो ? इस अवसर पर अट्टहास का प्रयोजन ?

सर्वराज—[प्रवेश] प्रयोजन है ! सर्वराज निरर्थक गति को कभी स्वीकार नहीं किया करते।

सत्यपुरुष—[क्रोध से] सर्वराज ! यह कैसी मूर्खता है ? मेरी उपस्थिति में तुम्हारे आगमन का उद्देश्य ?

सर्वराज—तुम्हारी विजय और पराजय का दृश्य देखने के लिये।

सत्यपुरुष—तुम पापी हो ! घोर पापी, तस्कर, भ्रष्टाचारी।

सर्वराज—[हंसता है] पापी ? हम पापी हैं ? घोर पापी ! तस्कर भी, भ्रष्टाचारी भी।

सत्यपुरुष—तुम देशद्रोही हो, राष्ट्रद्रोही हो।

सर्वराज—यह भी माना। जो कहोगे मानूंगा। किन्तु......तौबा, तौबा। सत्यपुरुष के परम् मित्र, सत्य में अनन्त आस्था रखने वाले हरिश की यह दशा ? एक तपस्वी का उसके तप का यह फल ? आप तो......सचमुच पापी नहीं सत्यपुरुष।......हम पापी हैं। यह हम देख ही रहे हैं। कइयों को भोगते हुए देख रहे हैं। [वातावरण में धीरे-धीरे कुछ काग बोलना आरम्भ होते हैं]

सत्यपुरुष—मर्यादा में रहो सर्वराज !

सर्वराज—हर एक की अपनी अपनी मर्यादा है, सत्यपुरुष। तुम्हारी अपनी मर्यादा है और हमारी अपनी। मगर हरिश के उन प्रश्नों का क्या हुआ ?

सत्यपुरुष—समय उन प्रश्नों के उत्तर स्वयं देगा ?

सर्वराज—समय ?

सत्यपुरुष—हां ! समय !

सर्वराज—तुम क्यों नहीं। शायद इस लिये नहीं......क्यों कि तुम्हारे पास उन प्रश्नों के उत्तर हैं ही नहीं।

सत्यपुरुष—सर्वराज ? कहीं ऐसा न हो कि हम तुम्हें शाप दे दें।

सर्वराज—[अट्टहास] शाप ! आ गये ओछे हथियारों पर। लेकिन तुम मुझे नहीं डरा सकते। क्योंकि तुम्हारा शाप मुझ जैसे लोगों के लिये नहीं है। तुम्हारा शाप तो उन पर काम करता है जो तन-मन से तुम्हारे अनुयायी होते हैं। देख लो ! अपने इस हरिश को देख लो। जरा इस आंगन से बाहर झांक कर देखने का कष्ट करो। अनगिनत हरिश मिलेंगे तुम्हें। (हंस कर) किन्तु हैं सभी अभिशप्त।

सत्यपुरुष—अपमान ! घोर अपमान !

सर्वराज—[हरिश से] देर न करें हरिश। अभी पूछें इस सत्यपुरुष से—आपकी दशा हीन क्यों होती रही ? सत्य का पालन करते रह कर भी आप दिन-ब-दिन टूटते क्यों रहे ? आपकी तारा, आपका रोहित भूख-प्यास के मारे बिलख बिलख कर प्राण क्यों दे गये ?

सत्यपुरुष—बस ! बस कर नीच ! तू अज्ञानी है। अंधा है।

सर्वराज—हां, हां। वास्तविकता कहने वाला अज्ञानी है, अंधा है। इससे अधिक तुम कह भी क्या सकते हो ? (हरिश से) रुकें मत हरिश ! पूछें ! पूछें कि सत्य के लिये राजपाट त्याग देने पर भी सत्य की परीक्षा क्यों शेष रही ? तन के वस्त्र चीथड़े हो गये, शरीर ढल कर पिंजर-सा हो गया......तो भी तुम्हारे सत्य की परीक्षा क्यों बाकी रही। क्यों ? (विराम) अब आपके पास लुटाने को बचा क्या है ? तब भी आपके सत्य की परीक्षा शेष है और आगे भी रहेगी। जन्म-जन्मांतर तक शेष रहेगी। आखिर परीक्षा की भी कोई मर्यादा होती है, नियम होते हैं। (क्षणिक विराम)

मांस गया पिंजर रहा, ताकन लागे काग।
साहिब अजहूं न आइया, मंद हमारे भाग॥

खैर, हरिश ! आज्ञा दें। उचित लगा तो फिर आऊंगा। [सत्यपुरुष की ओर तीखी मुस्कान से देखते हुए प्रस्थान।]

सत्यपुरुष—[तनिक मौन के बाद] उस दुष्ट नास्तिक की बातें महत्त्वहीन हैं हरिश ! उनकी ओर ध्यान देना बुद्धिमत्ता नहीं। तुम्हें उसने सदा पथ भ्रष्ट करने की बातें कहीं। यह तो तुम जानते ही हो ह। धूर्त कहीं का !

हरिश—[आवेग में] और तुम पर विश्वास करूं ? तुम्हारे सत्य का जाल मुझे अब और नहीं कस पाएगा, सत्यपुरुष उसके ताने-बाने ढीले हो चुके हैं।

सत्यपुरुष—शांति ! शांति हरिश !

हरिश—जीवन भर जो अशांत रहा वह अब क्या शांत होगा सत्यपुरुष ! तुम मुझे बताओ। तुम्हें बताना होगा। [लाल, पीली, नीली रोशनियों के मिले जुले फ्लैश हरिश की आवेगपूर्ण प्रश्नवाचक विभिन्न मुद्राओं पर पड़ते हैं। इसी बीच सत्यपुरुष भी अपनी विभिन्न मुद्राओं का प्रदर्शन करता है। अंत में निराश एवम् पराजित हो कर लौट जाता है। कुछ समय पश्चात् मंच पर धीरे-धीरे प्रकाश मद्धिम हो जाता है। कुछ छायाएं आ कर हरिश के इर्द-गिर्द नृत्य करती हैं, हरिश को इनका तनिक भी पता नहीं चलता। तत्पश्चात मच पर सम्पूर्ण अंधकार छा कर पाश्चात्य संगीत के साथ-साथ धीरे-धीरे उज्ज्वल प्रकाश फैल जाता है। ठूंठों पर नयी कोंपलें दिखाई दे रही हैं।

एक ओर खड़ा सर्वराज मुस्कुरा रहा है। दूसरी ओर नयी पोशाक पहने गम्भीर मुद्रा में विशाल पत्थर पर बैठा हरिश दूर कोई दृश्य देखने में लीन है। तभी पाश्चात्य वेश-भूषा में प्रवेश कर मुस्काती हुई आधुनिका हरिश की ओर हाथ बढ़ती है। हरिश सर्वराज की ओर देखता है। सर्वराज मुस्काता और गर्दन हिला कर सहमति प्रकट

करता है। हरिश आधुनिका का हाथ थाम लेता है, चूमता है। सर्वराज आंख दबा कर प्रस्थान करता है। कुछ पल हरिश और आधुनिका एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं। वह हरिश के कंधे पर अपना सिर रख कर सहलाती है। हरिश उसकी कमर में बांह डाल देता है। तदोपरांत नृत्य की मुद्रा में दोनों कुछ कदम आगे बढ़ते हैं]।

—402, अम्बफला,
जम्मू।

[जम्मू में दिसम्बर 1980 में आयोजित नाट्य लेखन कार्यशाला में पठित]



कविता

एक दुनिया और

—शशिशेखर तोषखानी

मैं चलता हूं
तो एक दुनिया मेरे साथ-साथ चलती है
एक दुनिया—
जो झाग बिखेरती लहर-सी
मेरे भीतर टकराती रहती है
छपाक् से
और मैं
सीपियों से भरा एक किनारा हो जाता हूं !

एक दुनिया
जो अकेलेपन के अनंत विस्तार में
मेरी यात्रा के लिये
रेल की पटरी-सी बिछ जाती है
और मैं हर स्टेशन पर
विदा के हिलते हुए रूमाल देखता हूं

स्मृति के खोखलेपन से निकला
एक अनकहा शब्द
अपनी लम्बी-किरणें डालता है
क्षणों के टूटते हुए आईनों पर
और मेरा ज़ख्म
हज़ारों भाषाओं में कौंध उठता है
धुएं के जंगलों के बीच
जब मैं एक अकेली चिनगारी-सा

भागने का रास्ता बनाता हूं
तो एक इशारा मुझे अपने कन्धों पर बिठाता है

नहीं, मैं अपनी उदास चुप्पियों में भी
अकेला नहीं
एक हज़ारों वर्ष पुरानी आवाज़
मेरे कन्धों पर हाथ रखती हुई
मुझे मेरे असली नाम से पुकारती है
मैं चलता हूं
तो एक दुनिया मेरे साथ-साथ चलती है
एक दुनिया जो मेरे
खून की अंतरंग उष्णता में घूमती हुई
मेरे दिल की एक धड़कन से
दूसरी धड़कन तक
अपने पैरों की छांव छोड़ती है
मेरी सांसों की नम मिट्टी में
सावधानी से
एक स्वप्न का बीज बोती है
और मैं प्रतीक्षा में हूं
कब यह बीज
मेरी नसों में
अपनी शाखाएं
और पत्तियां फैलाता हुआ
मेरे भीतर
एक बहार ईजाद करेगा !



—11-ए०, इन्दिरा नगर, बटवारा, श्रीनगर

[25-11-1981 को राष्ट्रीय एकता दिवस के अवसर पर टैगोर हाल, श्रीनगर में आयोजित कवि सम्मेलन में पठित]

कहानी

कोहरा

—सुशान्त चौधरी

मैं हैरान था कि इस शहर में हर समय धुंध सी क्यों छाई रहती है। यहां सूरज नहीं सूरज का केवल बिम्ब ही उभर पाता है। यहां के लोगों को इस की परवाह भी नहीं कि सूरज कब निकलता है और कब डूबता है क्योंकि यहां हर समय रात का सा अन्धेरा छाया रहता है।

इस शहर में हर व्यक्ति शायद बहरा और गूंगा था। मैंने कई व्यक्तियों से बात करने की चेष्टा की पर किसी ने मेरी बात नहीं सुनी। मैंने किसी को आपस में बातचीत करते हुए भी नहीं देखा, विचार-विमर्श का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैंने सोचना आरम्भ किया कि फिर इस शहर का काम-काज कैसे चलता होगा? बहुत दिनों तक सोचने के बाद मैंने शहर के सारे कार्य-व्यापार का निरीक्षण करने की सोची। कुछ दिनों तक निरीक्षण करने के पश्चात् मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि इस शहर का सारा लेन-देन, काम-काज मौन भाषा में अथवा इशारों में ही हो जाता है। विचार-विमर्श की कभी कोई आवश्यकता नहीं होती। कोई किसी से बात नहीं करता। कोई किसी से प्रश्न नहीं पूछता। कोई किसी बात का उत्तर भी नहीं देता। एक दूसरे को केवल वस्तुएं दी जाती हैं और उन से वस्तुएं ही ली जाती हैं। मैं हैरान था कि साल-दर-साल बिना कोई शब्द बोले, बिना कुछ सुने इस शहर वाले न जाने कैसे जी लेते हैं। पर शहर का वातावरण मुझे अत्यंत ही व्यस्त सा लगा।

मैं इस शहर में रहने आया था। क्योंकि मैंने इस शहर के बारे में सुन रखा था कि इस शहर की लम्बाई-चौड़ाई बहुत बड़ी थी और शहर रात-दिन व्यस्त रहता था। इस शहर में रात, रात नहीं थी और दिन, दिन नहीं था। चौबीसों घंटे यह शहर बनावटी रोशनी से चमकता-दमकता रहता।

यह शहर एक नदी के किनारे बसा हुआ था। दूर से नदी की लहरें ठाठें मारती हुई, बहती हुई सी, दिखाई देतीं पर जब मैं नदी के करीब गया तो मुझे नदी ठहरी हुई प्रतीत हुई, उसमें हाथ डाला तो पानी भी रुका हुआ सा लगा। मैं हैरान सा रह गया कि पानी

में हाथ डालने के बाद जब मैंने हाथ निकाला तो वह कहीं से भी भीगा नहीं था। हाथ बिल्कुल सूखा था। शायद यह नदी किसी ऐसे सपनों के देश के राजकुमार की प्रतीक्षा कर रही थी जो उसे फिर से बहाव की स्थिति में लाये, फिर से उसे भीगने की स्थिति तक पहुंचाए। इस रुकी हुई नदी के किनारे सहमे हुए से पत्थर पड़े हुए थे। इन्हीं सहमे हुए पत्थरों से इस शहर की इमारतें बनी थीं।

अन्य शहरों की तरह यहां भी जलसे-जुलूस होते थे। एक मंच पर किसी दल का वक्ता खड़ा हुआ बहुत कुछ कह रहा था। जनता की तालियों की ध्वनियों ने उस मंच की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैं उस मच के करीब पहुंचा और उस वक्ता के भाषण को सुनने का प्रयत्न करने लगा। वह मुझे बहुत कुछ कहता हुआ सा प्रतीत हुआ पर उसकी किसी बात को मैं सुन न सका। वह शून्य में अपना हाथ जोर-जोर से हिला रहा था और लोग मशीन की तरह तालियां भी बजाते जा रहे थे जैसे हर बार उनके हाथ हिलाने पर उन्हें तालियां ही बजानी थीं। मैं काफी देर तक वहां आश्चर्यचकित सा खड़ा रहा पर या तो तालियों की ध्वनि इतनी अधिक थी कि वक्ता का स्वर कहीं गुम हो गया था या वक्ता ही अपने होंठ शून्य में हिलाए चला जा रहा था। मैं कोई भी निर्णय लेने में असमर्थ था।

मैं उस जलसे से बाहर निकला और धीरे-धीरे उस सड़क पर विचारमग्न सा चला ही जा रहा था कि मैंने एक व्यक्ति को किसी व्यक्ति की थैली छीनते हुए देखा। उस व्यक्ति के सिर पर उसने किसी लोहे की वस्तु से चोट भी की थी और उसे वहीं छोड़ कर भाग निकला था। आस-पास चलते हुए सभी व्यक्तियों ने उसे करीब से यह सब करते हुए देखा पर शायद अपने बहरे और गूंगेपन की बीमारी के कारण न तो वे कुछ सुन सके और न ही कुछ कह सके। केवल कुछ व्यक्तियों ने उस घायल व्यक्ति के करीब आकर गौर से उसका निरीक्षण किया और कुछ क्षण खड़े होने के पश्चात् चुपचाप धीरे से सरक गये। वह व्यक्ति अब अकेला निश्चेष्ट सा सड़क के किनारे पर पड़ा था और उस शहर के किसी भी व्यक्ति के पास इतनी फुर्सत नहीं थी कि उसे देख भी सके। मैं उस घायल व्यक्ति के करीब पहुंचा और उसे होश में लाने के उपाए करने लगा। सड़क के आस-पास चलते हुए लोग मुझे बड़ी हैरानी से देखते रहे। वे समझ गये थे कि मैं इस शहर का नहीं हूं। बहुत देर बाद भी जब उस व्यक्ति को होश नहीं आया तो मैं करीब के थाने में शिकायत लिखवाने पहुंचा। एक हट्टा-कट्टा थानेदार जो बहुत ही व्यस्त दिखाई दे रहा था, मुझे मिला। उसने मुझे अपनी शिकायत सुनाने के लिए इशारा किया और स्वयं उसने एक मोटा सा रोज़नामचा खोल लिया। मैं थानेदार की इस तत्परता से बहुत ही प्रभावित हुआ। मैंने घटना आरम्भ से अन्त तक ब्योरेवार सुनानी आरम्भ की। उसने भी अपनी कलम से उसे लिखना आरम्भ कर दिया। तब अचानक ही मेरी दृष्टि उसके रोज़नामचे पर पड़ी। वह तत्परता से लिख तो रहा था पर जैसे ही उसके कलम की स्याही सूखती वहां उसकी लिखावट का नामो-निशान भी न बचता। मैं उसके इस करिश्मे पर बड़ा हैरान था। मैंने जब अपनी शिकायत लिखवा दी तो उससे रोज़नामचे को देखने की इच्छा प्रकट की। उसने रोज़नामचे को धीरे से मेरी

ओर सरका दिया। मैं यह देख कर सकते में आ गया कि वहां केवल ब्यौरेवार तिथियां थीं और किसी भी शिकायत का कोई चिन्ह न था। मैंने थानेदार के चेहरे की तरफ देखा तो वह मन्द-मन्द सा मुस्कराने लगा। अब मैं जल्दी ही वहां से निकल आया।

पूरे शहर में विचित्र नीरवता सी व्याप्त थी। उस थानेदार के अलावा मैंने किसी को मुस्कुराते हुए भी नहीं देखा। सभी चुपचाप अपनी ही धुन में चलते चले जा रहे थे। किसी को किसी की भी परवाह नहीं थी। शहर अब भी बनावटी रोशनी से जगमगा रहा था। अब तक मैं बहुत भटक चुका था, इस लम्बे-चौड़े शहर में—न जाने और कितना भटकना अभी बाकी था। भूख और प्यास से मैं परेशान हो गया था। आखिर मुझे एक हलवाई की दुकान दिखाई दी। मैं दुकान के अन्दर चला गया और एक शानदार कुर्सी पर बैठ गया। दुकान के कर्मचारी से मैंने पकवान लाने को कहा। उसने एक बड़ी प्लेट में सुन्दर और अच्छे आकार वाले बहुत से पकवान लाकर रख दिये। भूख तो मुझे लगी ही थी इस लिए बिना कुछ सोचे-विचारे शीघ्रता से मैंने पकवान खाना आरम्भ कर दिया। मैं बड़ा हैरान सा हुआ, जब मुझे लगा कि पकवानों में सुगन्ध तो थी पर मुंह में पहुँचते ही उनका पता ही नहीं चलता था। मैं काफी देर तक शून्य में ही अपने दांत हिलाता रहा और शून्य को ही चबाता रहा। अब प्लेट में कुछ भी नहीं बचा था। इतना सब खा लेने के बाद भी मेरी भूख ज्यों की त्यों थी। मैं थक गया था। मैंने एक गिलास पानी मांगा जिस से मैं अपनी प्यास बुझा सकूं। उस कर्मचारी ने मेरे सामने एक शीशे के गिलास में पानी भी रख दिया। मैंने उसे तत्काल होंठों से लगा लिया। कुछ ही क्षणों में मैंने उस गिलास को खाली कर दिया। पर विचित्र बात यह थी कि उस जल से न ही मेरे होंठ भीगे न ही गला। मैं अब भी समूचे रूप से प्यासा था। इतना पानी पीने के पश्चात् भी मुझे ऐसा लग रहा था कि जैसे मैंने सूनेपन को पी लिया हो। मेरा गला अब भी प्यास से सूख रहा था। शायद यह पानी ठहरी हुई नदी का ही था।

मैं उस दुकान से निकल कर बाहर आया और सोचने लगा कि क्या इस शहर के सभी लोग सब कुछ खाकर भी भूखे और सब कुछ पीकर भी प्यासे हैं ?...न जाने कितनी सदियों से इस ठहरी हुई नदी के किनारे गूंगे-बहरों के शहर के लोग भूखे और प्यासे हैं ?

मैं सड़क पर चल ही रहा था कि मुझे एक जगह कवि-सम्मेलन का बोर्ड लगा दीख पड़ा। मैं बड़ा प्रसन्न हुआ कि चलो इस शहर के लोग अपने मन के भावों को कविता में तो व्यक्त कर सकते होंगे। मेरी भी अपनी पुरानी कविता करने की वृत्ति जाग उठी। मैंने सोचा कि चलो इसी बहाने मुझे कुछ कहने का बहाना मिल जायेगा और इस लगातार चलने वाले गूंगे-बहरेपन से छुटकारा मिल सकेगा। मैं आयोजकों के पास जा पहुँचा। मैंने भी अपना नाम कवि-सम्मेलन के लिए लिखवा लिया। उन्होंने मेरा नाम सब से अन्त में रखा। पर आश्चर्य यह था कि हर कवि मंच पर आता हाथ हिलाता, आगे पीछे मुड़ता, अपने होंठ ऊपर-नीचे हिलाता और जनता उनके इस करतब पर लगातार जोर-जोर से तालियां पीटती जाती। मैं इस से परेशान हो गया कि यहां स्वरहीन कविता कही जा रही

है। मैंने सोचा शायद यहां स्वरहीन-वाद का प्रचलन हो पर मेरी कविता की तो आवाज़ है। क्या पता यहां के आयोजकों को पसन्द आये या नहीं। अन्त में मेरी भी बारी आ गई। मैं मंच पर आ गया और गूंगे-बहरे शहर के बारे में अपनी अनुभूतियां कविता द्वारा व्यक्त करने लगा। मेरे कविता-पाठ से वहां सन्नाटा सा छा गया। सभी मुझे घूरते हुए से प्रतीत हुए, सभी के चेहरों पर प्रश्न चिन्ह अंकित थे। मेरी कविता पर किसी ने तालियां नहीं पीटीं। एक रहस्यमय चुप्पी सी छा गई, अब मैं घबरा कर मंच से नीचे उतर आया। वहां के सभी कवियों और आयोजकों ने मुझे घेर लिया और मुझे खा जाने वाली नज़रों से देखने लगे। मुझे ऐसा लगा जैसे मैंने यह कविता सुना कर बहुत बड़ा अपराध किया हो। मैं उस भीड़ में से निकलने की चेष्टा करने लगा। इस गूंगे-बहरों के शहर ने मुझे भी भावशून्य सा बना दिया था। मैं इस शहर को छोड़ कर किसी दूसरे शहर में बसने का विचार करने लगा। मैं किसी ऐसे शहर में बसना नहीं चाहता था जहां मैं कहना भूल जाऊं, सुनना भूल जाऊं, हंसना भूल जाऊं। पर कहीं ऐसा न हो कि मैं इस शहर को छोड़ किसी दूसरे ऐसे शहर में पहुंच जाऊं जहां के लोग गूंगे-बहरे ही नहीं अंधे भी हों ? मैं सन्नाटे भरे इस शहर में गुम सा हो गया। धुंध इस शहर में अब भी मौजूद थी।

—मकान नं० 42, गली शोभाराम
धौंथली बाज़ार, जम्मू—180001

कविता

प्रेम के गीत

—अशोक जेरथ

एक ही पर्वत पर जन्म लेते हैं
ओक, चीड़ और देवदार
एक ही आकाश पर टिमटिमाते हैं तारे बेशुमार
यही जीवन है यही है सृष्टि का नाम
न ज़मीं अकेली है न अकेला आसमान
न हम तुम अकेले हैं न अकेली चिनाब की लहर
चमकते हैं गांव अनेक जुगनुओं से
अकेला नहीं है कोई शहर
इस की लहरें पवित्र हैं संध्या के लिए
इसी के पानी में है वज़ू होता
यहीं से उठती हैं लहरें उमंगों की
यहीं पर है काम कामना से सोता
यहीं पर जन्मा था हरिसिंह नलवा
यहीं से उठी है जोरावर सिंह की शमशीर
यहीं पर प्रेम में पगलाया था रांझा
यहीं पर प्रणय के धागे से उलझी थी हीर
यहीं पर दसवें पादशाह ने स्वाभिमान का परचम था लहराया
यहीं पर अपनी बंदगी से बंदा था बंदा कहलाया
कौन सिक्ख है, कौन मुस्लिम, कौन हिन्दु, कौन इसाई
हमें जरूरत क्यों पड़ती है बार-बार कहने की हम हैं भाई-भाई
उठो पहचानो उन्हें जो नफरत का धुआं उड़ाते हैं
बंद करो उनके मुंह जो मौत का गीत गाते हैं
इस धरती ने पहले ही अनेकों ज़ख्म झेले हैं
इसे और छलनी न करो प्रेम की मलहम लगाओ
हम सब एक हैं मिल कर सब प्रेम के गीत गाओ !

—रेडियो कश्मीर, जम्मू

[25-11-1981 को राष्ट्रीय एकता दिवस के अवसर पर ज्योतिपुरम्, जम्मू में आयोजित कवि सम्मेलन में पठित]

लेख...नए हस्ताक्षर का

हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में–हरिजन समस्या

—मज़हर अहमद खान

कुछ समय पहले राममनोहर लोहिया ने लिखा था कि आज वर्ण और योनि, इन दो कटघरों को तोड़ने से बड़ा पुण्य कोई नहीं है। वर्ण से जुड़े मूल्यों का खमियाज़ा सबसे अधिक हरिजनों को भुगतना पड़ा है। महात्मा गांधी ने पहली बार न केवल हरिजनों की मुश्किलों की ओर लोगों का ध्यान खींचा अपितु उनके साथ सदियों से होते आए अन्याय की कटु आलोचना भी की। उन्होंने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म में घुसी हुई सड़न की संज्ञा देते हुए इससे मुक्त होने का उनका आह्वान किया।

गांधी जी ने अछूतोद्धार के लिए आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम निर्धारित किये। गांधी जी के अछूतोद्धार आंदोलन का समर्थन प्रेमचन्द के उपन्यासों में है। प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जो हरिजन समस्याओं की पड़ताल गहरे जाकर करते हैं।

२० दिसम्बर १९३२ को गांधी जी ने हरिजनों के प्रश्न पर आमरण अनशन शुरू किया, तब प्रेमचन्द ने उनके इस कदम को सराहा। अछूतों के मन्दिर-प्रवेश पर वे गांधी जी से सहमत थे। 'कर्मभूमि' में मन्दिर-प्रवेश के लिए हरिजनों के संघर्ष के प्रासांगिक ब्यौरे हैं। लेकिन प्रेमचन्द जानते थे कि हरिजनों की मुश्किलें मन्दिर-प्रवेश से हल नहीं होंगी। 'कर्म-भूमि' में प्रेमचन्द लिखते हैं कि, उस समस्या की आर्थिक बाधाएं धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं......असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे, जो उन्हें उठने में मदद दें। 'कर्मभूमि' में वे जाति के आधार पर छोटे-बड़े का निर्णय करने के विरुद्ध दिखाई देते हैं, प्रेमचन्द कहते हैं "छोटे का निर्णय कर्म के आधार पर किया जाना चाहिए, जाति के आधार पर नहीं। जो सच्चा है, वह चमार होने पर भी आदर का तथा जो झूठा और लचर है, वह ब्राह्मण होने पर भी तिरस्कार का पात्र होना चाहिए।"

उच्चवर्णों की सुख-सुविधा के लिए हाड़तोड़ श्रम और उसकी एवज में नाममात्र की मजदूरी, गालियों और लातघूंसों की प्राप्ति हरिजनों की निमति रही है। ब्राह्मण उन्हें धर्म का हौवा दिखाकर लूटता रहा है, जमींदार डंडे के ज़ोर पर उसकी इज्जत से खेला और

महाजन ने उसे आर्थिक तौर पर एकदम नंगा कर दिया। ऊंची जाति की इस मनमानी के अनेक प्रसंगों से गुजरते हुए प्रेमचन्द ने इसकी प्रतिक्रिया में उभरते हरिजन-आक्रोश को अनदेखा नहीं किया।

'गोदान' में 'हरखू' जैसे हरिजन अपनी इज्जत की खुली लूट के लिए तैयार नहीं हैं। हरखू कहता है कि, "तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है तो, फिर तुम ही चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पीओ, हमारे साथ उठो बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो हमारा धर्म हमें दे दो।"

प्रेमचन्द के समकालीन और बाद के जिन उपन्यासकारों ने हरिजनों के चहुँमुखी शोषण से गुजरते हुए इसके विरोध में आवाज़ उठाई है, उनमें सियारामशरण गुप्त, हर्षनाथ, नागार्जुन, रांगेय राघव, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, जगदीश चन्द, अमृतलाल नागर, विवेकीराय और मधुकर सिंह मुख्य हैं।

सियाराम शरण गुप्त ते 'अन्तिम आकांक्षा' में वंशीधर महाजन द्वारा हरपा हरिजन का सब कुछ हड़प लेने की विसंगति पर प्रहार किया है। 'टूटते बंधन' में पटवारी और चौधरी की मिली-भगत से मेहनतकशों पर जुल्म ढाये जाने की विश्वसनीय कथा उपलब्ध है। 'धरती धन न अपना' में चमारों का मुकाबला उन चौधरियों से है, जिनके ख्याल में चौधरी व कमीन की लड़ाई में गलती हमेशा कमीन की होती है। जब चमार संगठित होकर अपनी लड़ाई लड़ते हैं, तब चौधरियों की क्रूरता देखते ही बनती है। वे उन्हें कुओं से पानी तक नहीं भरने देते।

पिछले दिनों उ० प्र० में हरिजनों को जिन्दा जलाये जाने के पीछे मुख्य कारण यह था कि हरिजनों की बारात में वर घोड़े पर बैठकर जा रहा था। 'सीधा-सादा रास्ता' में इसी प्रकार घटना साक्षी देती है कि दशकों के बाद भी स्थिति में कुछ अधिक परिवर्तन नहीं आया है। रामनाथ तिवारी घोड़े पर सवार चमार युवक वर को गिरवा देते हैं और साथ के लोग बुरी तरह अपमानित होते हैं। रामनाथ तिवारी जैसे रूढ़िवादियों को शोषितों में उभरती चेतना फूटी आंख नहीं भाती। चित्तप्रसाद जैसे कुछ समझदार समाजसेवी जरूर तर्क और बौद्धिकता से लैस होकर सोचते हैं कि, जब स्कूलों में चमार-बामन एक साथ बैठकर पढ़ते हैं, रेलों में एक साथ सफर करते हैं, तो क्या कारण है कि चमार अपनी मनचाही रीति से शादी-ब्याह नहीं कर सकते।

आज़ादी के बाद महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रदेशों में हरिजनों को सताये जाने की सैकड़ों घटनाएं सामने आयी हैं। ये घटनाएं एक ओर समता, न्याय, बंधुत्व के लिए प्रतिश्रुत जनतांत्रिक व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाती हैं तो दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करती हैं कि नौकरशाही और पुलिसतंत्र पूरी तौर पर उत्पीड़कों और हमलावरों के साथ है। हरिजन और सवर्ण जाति संघर्ष के रूप में उभरा है। इसे वर्ग संघर्ष नहीं

कहा जा सकता। यह देखा गया है कि पिछड़ी और उच्च जातियों के भूमिहीन और निर्धन लोग संघर्ष में अपनी जाति का साथ देते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकतर जगहों के संघर्ष आर्थिक, राजनीतिक कारणों से हुए। उच्च वर्ग अभी हाल तक खेती आदि के लिए हरिजनों का इस्तेमाल लगभग बंधुआ मजदूरों की तरह करता रहा है। आज यदि सरकारी संरक्षण और शैक्षिक जागरूकता के फलस्वरूप भूमिहीन हरिजन मेहनतकशों में आर्थिक असमानता के प्रति असंतोष जगता है, तो यह बात कृषि-व्यवस्था पर एकाधिकार जमाये बैठे लोगों के हक में नहीं जाती। वोट-बैंक के रूप में हरिजनों के महत्व से ऊंची जातियां सशंकित हैं, और सरकारी नौकरियों में हरिजन-आरक्षण ने भी उन्हें चिढ़ाया है। ऐसी स्थिति में टकराहट अस्वाभाविक नहीं है।

'मनुष्य के रूप', 'टूटते बंधन,' 'जल टूटता हुआ,' 'अलग-अलग वैतरणी,' 'धरती धन न अपना' आदि में हरिजनों का सवर्णों के उत्पीड़न के जन्मसिद्ध अधिकार को तमाचा लगाना शोषण पर स्वाभिमान का प्रहार है। 'जल टूटता हुआ' में विद्रोहभाव लवंगी के जरिए व्यक्त हुआ है और इससे साबित होता है कि वे अन्याय के विरोध में मुह खोलने का दुस्साहस कर सकते हैं। लवंगी का भाई पार्वती को छेड़ने के आरोप में पीटा जाता है। वह अकेली इस दोहरेपन को नंगा करती है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, चमार की लड़की को छेड़ें तो कोई बात नहीं चमार ने बड़ी जाति की लड़की छेड़ दी तो आफत आ गयी। वह पूछती है, कि चमार का खून-खून नहीं होता! बामन का ही खून-खून है हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या? बामनों की ही इज्जत होती है।

'मनुष्य के रूप' में विद्रोह का रूप तनिक भिन्न है। धनसिंह हरिजन होते हुए भी अपने को ऊंची जाति का बताता है। बकौल उपन्यासकार......वह झूठ एक विद्रोह में बोलता था। अपने ऊपर लादे गये क्षुद्रता के अपमान और दमन को अस्वीकार करने के लिए और ऊंची जाति वालों की समानता और बराबरी में बैठ सकने के लिए।

'अलग-अलग वैतरणी' में हरिजन-आक्रोश अपेक्षाकृत उग्र और आक्रामक है। हरिजन संगठित होकर सुगनी को सुरजूसिंह के घर बिठाने यानि पत्नी का अधिकार दिलाने के लिए जुलूस की शक्ल में चलते हैं। हालांकि उनका अभियान असफल हो जाता है, फिर भी अपने गुस्से के भावी परिणामों की चेतावनी देने में उन्हें सफल कहा जा सकता है।

'धरती धन न अपना' में हरिजन काली के नेतृत्व में चौधरियों को अच्छी टक्कर देते हैं। काली, चौधरियों को आगाह कर देता है कि, हमने तुम्हारी बहुत बातें सुन ली हैं, लेकिन हर चीज की हद होती है। हम पत्थर के नहीं हैं, हम भी इन्सान हैं।

'जंगली सुअर' में देवरिया गांव के हरिजन टोले पर हमले के हवाले से जहां भूस्वामियों को संगठित दिखाया गया है, वहीं दलित वर्ग में भी जागरूकता के संकेत दिए गए हैं।

जहां कुछ उपन्यासकारों ने हरिजनों में अपनी समस्याओं से जूझने का साहस और जीवट दिखाया है, कुछ ने उनकी समस्याओं के समाधान के लिए पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय सवर्णों

में इक नयी मानसिकता के उदय को ग्राशा की दृष्टि से देखा है। प्रगतिशील विचारों के सवर्ण छूग्राछूत को तर्क की कसौटी पर एक मिथ्या ग्रवधारणा के रूप में पाते हैं।

'नदी यशस्वी है' में नरेश मेहता खानपान संबंधी छूग्राछूत ग्रौर भूठ को उच्च वर्ग का प्रतीक मानते हुए कहते हैं कि किसी दूसरे के घर या हाथ का न खाने का संस्कार भी बड़ा ग्रजीब होता है......खाकर, न बोलकर ग्रपने को पृथक् करने की विशिष्टिता बड़ी ही निम्नकोटि की श्रेष्ठता है जो कि मिथ्या है।

विवेकीराय के बबूल का नैरेटर ग्रछूत के लोटे में पानी पीने के सवाल पर सोचता है कि इसे क्यों ग्रछूत समझें? वह सोचता है कि नियम, कानून ग्रौर व्यवहार को चीरकर ग्रलग कर दिया जाये तो मैं उसके सामने कितना तुच्छ हूँ।

'जल टूटता हुग्रा' में सतीश इस नतीजे पर पहुंचा है कि, जाति-पांति का भेदभाव ग्रन्याय को सह लेने का एक भूठा संकोच सिखाने वाली रूढ़ि है। इसी प्रकार 'सीधी-सच्ची बातें' में जसवंत कपूर छूग्राछूत ग्रादि के पीछे मनुष्य को पशु से भी गया गुजरा बना देने वाली व्यवस्था की हिंसात्मक प्रकृति को सक्रिय पाता है। 'इमरतिया' में नागार्जुन ने मस्तराम के माध्यम से मलमूत्र की सफाई करने वाली मेहतर को भी पूजापाठ का ग्रधिकारी माना है। सब ग्रपने शरीर की सफाई खुद करते हैं ग्रौर स्नान करके पवित्र बन जाते हैं, फिर मेहतर पवित्र क्यों नहीं हो सकता?

'नाच्यो बहुत गोपाल' में मेहतरों की बुरी दशा देखकर निर्गुण ने जो सवाल पूछा है, वह ग्रभी एक तरह से ग्रनुत्तरित है। निर्गुण पूछती है कि, दुनिया के बड़े-बड़े गिरे लोगों की तकदीरें पलट गयीं। ग्रफ्रीका के लोग जो कल तक गुलाम थे, ग्रब खुदमुख्तार हो गये। दुनिया में इत्ता-इत्ता इन्कलाब-जिंदाबाद ग्रौर ग्राज़ादी के नारे लगे, पर हम मेहतरों को किसी ने ग्राज तक ग्राज़ाद नहीं किया—बाबूजी।

वस्तुत: हरिजनों की ग्राज़ादी की लड़ाई लंबी है, चूंकि सवाल समूची सामाजिक ग्रार्थिक संरचना को बदलने का है, इसलिए यह काम ग्रासान नहीं है। 'हरा समंदर गोपी चन्दर' में लक्ष्मीनारायण लाल का यह कथन मायने रखता है: 'हरिजन शूद्र ग्रौर सवर्णों की लड़ाई बहुत लम्बी ग्रौर गहरी है—इसकी जड़ है रक्त में, ग्रौर इसके तने फैले हैं, हमारे जड़ संस्कारों में। यह युद्ध, यह संघर्ष चलेगा......चलता रहेगा!......सहो नहीं, विरोध करो। ग्रधिकार मांगो, ले लो।



—ग्राई० टी० ग्राई०, इलेक्ट्रिक ट्रेड, द्वितीय वर्ष, श्रीनगर, कश्मीर

पुस्तकें और पुस्तकें

समकालीन कहानी की पहचान

समकालीन कविता के बहुचर्चित हस्ताक्षर, आधुनिक हिंदी साहित्य के संदर्भ में सटीक, पैने और वस्तुपरक तर्क प्रस्तुत करने वाले तथा मौलिक स्थापनाओं के लिए सुविख्यात आलोचक डा० नरेन्द्र मोहन का 'आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी[1]' आलोचना संबंधी पांचवां प्रयास है।

प्रथम अध्याय 'आधुनिकता – कहानी के संदर्भ में' में लेखक ने अपने विचारनिष्ठ तर्कों द्वारा साहित्य में व्याप्त आधुनिकता सम्बन्धी समस्त भ्रमों का निराकरण करने का प्रयास किया है जिनके अंतर्गत आधुनिकता का रूप सीमित कर दिया गया है। लेखक ने स्वीकारा है कि आधुनिकता शास्त्र, दर्शन व सम्प्रदाय नहीं, मात्र एक दृष्टिकोण है जिसके मूल में वैज्ञानिकता, टेकनालाजी और औद्योगीकरण की संस्कृति है। आधुनिकता को मार्क्सवाद अथवा अस्तित्ववाद के आशयों और रवैयों तक सीमित नहीं रखा जा सकता। कारण यह कि इसका सम्बन्ध मानव व्यक्तित्व की खोज से ही नहीं, मानव मुक्ति की गतिशील धारणा से भी है। आधुनिकता न केवल मूल्य है और न केवल प्रक्रिया—यह तो "इतिहास के संदर्भ में मूल्यान्वेषण की सतत प्रक्रिया से अर्जित मानसिकता है।" डा० इन्द्रनाथ मदान की तरह डा० मोहन ने भी हिन्दी कहानी में आधुनिकता-बोध की शुरुआत प्रेमचन्द के अंतिम दौर की कहानियों 'शतरंज के खिलाड़ी,' 'कफन' व 'पूस की रात' से मानते हुए तर्क दिया है कि "...वस्तु संरचना दोनों दृष्टियों से इन कहानियों में आधुनिकता-बोध की शुरुआत हुई है।"

कहानी में आधुनिकता की पहचान का सिलसिला सन् १९५० की कहानियों से शुरू होकर १९८० तक की कहानियों पर खत्म होता है। इन तीस वर्षों की कहानी को 'समकालीन कहानी' के नाम से संबोधित करते हुए तीन दशकों (छठे, सातवें और आठवें) में बांटा गया है।

नयी कहानी या छठे दशक की कहानी को समकालीनता के पहले दौर की कहानी

---

1. आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी / ले० डा० नरेन्द्र मोहन
प्र० जयश्री प्रकाशन, ४/११५, विश्वासनगर, दिल्ली / मूल्य ३५.०० रुपये / पृष्ठ : १४४

स्वीकारते हुए डा० मोहन का कहना है कि इन कहानियों में आधुनिकता-बोध की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई है "एक, सभी कुछ को फूहड़, अर्थहीन और निरर्थक करार देने वाला, दूसरा, सभी कुछ को क्रांति की आग में दमकता हुआ दिखाने वाला। एक जटिलता, विसंगति और विडम्बना के विधानों पर टिका हुआ, दूसरा, संकल्प और निर्णय के शिखरों पर चढ़ा हुआ।" सातवें दशक की कहानी के संदर्भ में लेखक का मत है कि यहां आधुनिकता-बोध स्थिति के तर्क में लिपटा हुआ है। इस दशक का लेखक स्थितियों का चित्रण-निरूपण करने व स्थिति और पात्र की विसंगति और विडम्बना का विधान करने में संलग्न रहा। लेखक ने व्यवस्था और व्यक्ति की टकराहट तक को मानव स्थितियों में खपा दिया है। सातवें दशक की कहानी ने आधुनिकीकरण के दौरान आने वाली चुनौतियों का मात्र आलेख किया है जबकि आठवें दशक की कहानी ने इन चुनौतियों का सामना करने की वैचारिक क्षमता का प्रमाण दिया है, कारण यह कि आठवें दशक की कहानी ने स्थिति और नियति की सीमा उलांघ ली है और संघर्षशील नायकों की सशस्त्र कार्यवाहियों, हिंसक व्यवहारों और अंत के परिवर्तनकामी संकेत द्वारा आधुनिकता-बोध को सक्रिय संघर्ष और सामाजिक संरचना की पहचान की ओर ले जाना चाहा है।

तीसरा अध्याय आधुनिकता की तलाश में संलग्न 'समकालीन कहानी का रचना विधान' से सम्बन्धित है जिसमें समकालीन कहानी की प्रवृत्तियों का जायज़ा लिया गया है। अंत में 'समकालीन कहानी : संदर्भ और सरोकार' के अंतर्गत इस दौर के उन्नीस कहानीकारों की कहानियों और कहानी की विशिष्ट प्रवृत्तियों का आलेख है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि लेखक ने आधुनिकता सम्बन्धी भ्रमों को प्रमाणों के आधार पर झुठलाने की व उपलब्धियों के आधार पर सार्थक सिद्ध करने की कोशिश की है और कहानियों के उद्धरण देकर कहानीकार के आधुनिक दृष्टिकोण और बोध का परिचय दिया है। पुस्तक में आधुनिकता-बोध के अनुपात में ही समकालीन कहानी की पहचान स्थापित की गई है।

●

काव्यशास्त्र की अपेक्षाओं से परे

कविता के अवमूल्यन के इस दौर में कुछ ही अच्छी कविताएं हैं जो आश्वस्त करती हैं। जगन्नाथप्रसाद दास[1] की कविताएं इसी श्रेणी की कविताएं हैं। उनमें किसी किस्म का अतिरिक्त छद्म नहीं है। न ओढ़ी हुई आधुनिकता, न रूप-विन्यास के प्रति कोई बनावटी कोशिश। न वे किसी राजनैतिक पक्ष की कविताएं है, न किसी दल या वर्ग विशेष की...वास्तव में वे आदमी की कविताएं हैं! वह आदमी जो सोचता है, अपने समय और

1. कई दिन के दिन—जगन्नाथप्रसाद दास
   जयश्री प्रकाशन, दिल्ली—110002
   मूल्य—25 रुपये / पृष्ठ—80

उसके दबावों को महसूस करता है। अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति उसमें भी एक संशय पनपता है। जगन्नाथप्रसाद दास उस आदमी के भीतर झांकते हैं। वहां प्यार है, अतीत राग है एवं भीतर एक खास किस्म की असुरक्षा का अवसादबोध है। ऊपरी स्तर पर बिंबों की जो दुनिया बिखरी हुई है वह विविधवर्णी है। पर कहीं गहरे में, भीतर से भी भीतर कोई आत्मिक अवसाद है जिसे जगन्नाथप्रसाद दास वाणी देते हैं। वे भौतिक और जड़ चीज़ों से अपना रिश्ता जोड़ लेते हैं। पुराने किस्म के मानवीकरण की पद्धति का एक ऊपरी, कृत्रिम रिश्ता जिस तरह कविता को सिर्फ उद्धरण की वस्तु बना डालता है—वैसा सम्बन्ध इन कविताओं में कहीं नहीं है बल्कि अपनी ही धड़कन से जुड़ी कोई जीवन्त गतिशीलता—जैसे इन कविताओं की खोज है। वह चुप्पी में भी एक अर्थमयता को प्रकाशित करने की खोज जैसी प्रवृत्ति है—

> "कभी-कभी दिन बहुत चुपचाप होता है
> दूर बसी पहाड़ियां
> ढंकी हैं हरी छांव तले
> स्वप्न में देखे सभी चित्र
> सीधी लकीरों के जंगल।"

'कई तरह के दिन' शीर्षक लम्बी कविता या उनकी दूसरी कविताएं भी समग्र प्रभाव के रूप में एक खास 'काव्यार्थ' प्रस्तुत करती हैं। 'काव्यार्थ' से मेरा तात्पर्य मात्र व्यञ्जना का कोई दूरस्थ संकेत मिल जाना नहीं है। बल्कि एक गद्यात्मक परिगणना में सहसा जैसे 'बोध' का कोई सिरा—संवेदनात्मकता की कोई छोटी सी लहर स्मृति के किसी कोने को छू ले, और हम बिंबों के उस चित्रात्मक संसार के सामने हतप्रभ रह जायें।

कविताओं से जो प्राप्ति होती है उसे एक दम मोटे तौर पर बताना बहुत ही कठिन काम है। यह आसानी पुरानी कविताओं के बारे में जिस ढंग से प्राप्त थी शायद आज नहीं है। कविताओं के समग्र प्रभाव को भी कोई बिन्दु या आधार नहीं बनाया जा सकता। मेरे विचार में उन पर एक बहस ही की जा सकती है। उनके मूलांकन का काम न सिर्फ दुष्कर है बल्कि अर्थहीन भी। संयोग ही कहा जायेगा कि आज की बहुत सी कविताओं में 'बहस' के लिए भी संभावनाएं कम हैं इसलिए मेरे समकालीन समीक्षक कविताओं को लेकर विवेचना या मूल्यांकन पर जो भी चर्चाएं करते हैं उन पर संदेह होने लगता है क्यों कि वे कविता की तरफ से कम—अपनी ओर से ज्यादा कहते हैं। परन्तु जगन्नाथप्रसाद दास की कविताएं इस संदर्भ में अपवाद ही कही जायेंगी। इस लिए भी कि पहले तो कविताएं पढ़ते यह विश्वास कहीं भी बाधक नहीं बनता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं, दूसरे एक दूसरी किस्म का विश्वास भी पनपता है कि कोई कविता चाहे ओड़िया में लिखी जा रही हो या बांगला में—यदि वह सचमुच कविता है तो वह भाषाओं की बनावटी सरहद संक्रमित कर जाती है। किसी कवि-कर्म के लिए यह कितनी महत्वपूर्ण स्थिति हो सकती है—इसे विभिन्न भाषाओं की कविताओं का कोई सहृदय-रसज्ञ ही जान सकता है। रसज्ञ अर्थात कविता के

मर्म को अपनी परिबोधात्मक क्षमताओं द्वारा जानने वाला कोई कविता पाठक। इसलिए यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि जगन्नाथप्रसाद दास की कविताएं पाठकों की कविताएं हैं। इसी से सम्बद्ध एक दूसरी समस्या के संदर्भ में श्रीकांत वर्मा की टिप्पणी सार्थक लगती है कि "पिछले कुछ वर्षों में अनेक भारतीय भाषाओं में कविता की पहचान कठिन होती गयी है।" अर्थात कविताओं से जिस अनपेक्षित चीज की अपेक्षा की जाती है—उसका काव्य रचना की मूल भूमि से कोई सरोकार नहीं।

'कई तरह के दिन'—एक ऐसा संकलन है जिसे सहज ही सुखद आश्चर्य कहा जा सकता है। इसमें सिर्फ 'ओड़िया' का प्रान्तीय सौंदर्य रूपायित नहीं हुआ है बल्कि सौंदर्य का आसेतु रूपायन हुआ है। वह रूपायन जो गद्य या लोक कलाओं में विस्तृति मांगता है किन्तु कविता में वह सिमट कर बिंबों और बिंबों के अर्थ प्रत्ययों तक सिमट आता है। कहना चाहिए की इसी अर्थ में कविता एक तरह का अद्भुत आश्चर्य है क्योंकि वह विस्तृति को शब्द के किसी भीतरी बिम्बार्थ में संरक्षित ही नहीं बल्कि संक्षिप्ति में रेखांकित कर देती है। यद्यपि जगन्नाथप्रसाद दास की कविताओं में मुख्य स्वर के रूप में यह वृत्ति परिलक्षित नहीं होती तथापि वहां हर कवितान्त यह अनुबोध देता है। "रात में जैसे / अपने भविष्य के लिए / हुई होंगी कुछ मेरी मौतें" या "बिछड़ने के क्षणों में / तुम समय बन जाओगी" अथवा "समय स्मृति और कुछ संवेदना बन कर / तुम्हारे मेरे पास न रहने पर"......जैसे कुछ उदाहरण इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं। एक भरे पूरे से विस्तार को धीरे से कुछ बिंबों में समेट लेने की प्रवृत्ति-जैसे दो दुनियाओं को शब्दों की मार्फत किसी एक लघुतम इकाई में रच देना हो। अपनी भूमिका में श्रीकांत वर्मा ने भी जगन्नाथप्रसाद दास की कविताओं के इस वैशिट्य को रेखांकित किया है। उन्हें श्रीकांत वर्मा ने "लोक", "परलोक" जैसी संज्ञाओं में शब्दबद्ध किया है। वास्तव में दास की कविताओं में दो दुनियाओं की धारणा की कई व्याख्याएं हैं। वे संसार कल्पना और दृश्य संसार भी हैं तो एक उपस्थित और अनुपस्थित संसार भी कहे जा सकते हैं। मंतव्य यह कि 'संसार' के सनातन और असनातन सभी रूपों को सांसारिक चिन्ताओं के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। कोई भी वास्तविक कविता अर्थात सर्जना की मूलभूमि अपने अन्वेषात्मक आवेग में 'आत्मिक' चिंताओं को व्यक्त करती है तथा उनके ठोस रूपों, यथार्थ दबावों का भी दिग्दर्शन करती चलती है।

'कई तरह के दिन' संकलन को लेकर बहुत सी दूसरी बातें कही जा सकती हैं—उसके भाषा विकास का भाष्य भी किया जा सकता है परन्तु हर कविता अपने आप में जैसे पृथक कविता है। अपने मूल प्रभावी चरित्र के कारण हर कविता स्वायत्त ही है यद्यपि यह स्वायत्तता अराजक नहीं—इसमें कहीं किसी अन्तर्धारा में मानवीय एकसूत्रता है और यह बात काव्यशास्त्र की तमाम अपेक्षाओं से परे है।

—गंगा प्रसाद विमल

बलगारिया से एक 'शाश्वत उपहार'[1] की कोशिश

पुस्तक की भूमिका में डा० गंगाप्रसाद विमल लिखते हैं, 'लेवचेव की कविताओं की यह मूलभूत विशेषता अत्यन्त विचित्र हैं...कि एक ओर तो लेवचेव की कविताओं में सार्वजनिक या सार्वभौमिक होने का गुण है...दूसरी ओर बलगारियाई चरित्र की एक गुपचुप स्थानीयता।' सम्भव है यह स्थानीयता बल्कान क्षेत्र की भाषा द्वारा व्यक्त होती हो जिस का आनन्द अनुवाद नहीं दे सकता या फिर लेवचेव की कविता का पूरा और सही प्रतिनिधित्व ये चौदह कविताएं नहीं कर पातीं। डा० विमल यह भी कहते हैं कि 'एक कविता को अपनी सामाजिक स्थिति में जितना समाज-सापेक्ष होना चाहिए, उससे अधिक बाहर चले जाने की चेष्टा लेवचेव की कविताओं में नहीं है, इस कारण वे 'संयत' कविताएं हैं।' कविता को किस हद तक 'संयत' रहना चाहिए और अपने समाज के संदर्भ में ये कविताएं किस प्रकार समुचित मात्रा में समाज-सापेक्ष रही हैं, डा० विमल इस पर विचार नहीं करते। सम्भव है, वह पाठक को अपने निर्णय पर पहुंचने की छूट देते हैं। पुस्तक का 'डस्ट कवर' हमें बताता है कि लेवचेव बलगारिया के संसद-सदस्य, मन्त्री आदि अनेक महत्वपूर्ण पदों पर रह चुके हैं, लेवचेव भारत के अतीत से प्रभावित हैं, वर्तमान के प्रति घोर आशावादी हैं। हमें यह भी सूचित किया गया है कि उन्होंने भारत पर भी कविताएं लिखी हैं। इस सूचना के बाद संग्रह में इस प्रकार की एक भी कविता का न होना खटकता है।

इस में सन्देह नहीं कि ये चौदह कविताएं लेखक के विविध आयामीय दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। 'एक छोटी-सी सलाह' में कवि युवकों को मातृभूमि के भविष्य के निर्माण की प्रेरणा देता है। यह कविता एक प्रकार से आह्वान-गीत बन कर रह गई है। इसी प्रकार की धारणा 'गीत' शीर्षक रचना में व्यक्त हुई है जहां कवि कहता है—

'युवा दल/नहीं हूं अब तुम्हारा सदस्य/पर तुम तो रहते हो/निश्चित ही मुझ में/...
क्योंकि मैं तुम्हारा सदस्य रहा हूं।'

वह युवा दल का सदस्य बने रहना चाहता है—'एक पवित्र मेखला की तरह। हर ईमानदार दुनिया खोलने के लिए।' किन्तु कविता के अन्त में कवि का यह कथन कि वह अंधेरे और कांटों के बीच आजीवन युवा होने के लिए 'अभिशप्त' है, एक विरोधी ध्रुव प्रस्तुत करता है। एक अन्य गीत में कवि जर्मनों के विरुद्ध युद्धरत सैनिक की प्रशंसा करता है।

---

1. शाश्वत पंचांग और अन्य कविताएं—
   मूल लेखक— ल्यूबोमीर लेवचेव
   अनुवादक— डा० गंगाप्रसाद विमल तथा दिमितर पोपोव
   प्रकाशक— पराग प्रकाशन, विश्वास नगर, दिल्ली—110032
   मूल्य— बीस रुपये प्रति

कविता की दृष्टि से वे रचनाएं अधिक सुन्दर हैं जहां कवि सामान्य जीवन की स्थितियां चित्रित करता है। ऐसी-ही सुन्दर कविता है 'चिह्नहीनता' इस कविता में कालान्तराल से अपने ही शब्दों के अर्थहीन हो जाने एवं भावना की निपट सफेदी से उत्पन्न मानसिकता का अंकन हुआ है। कवि को मानव-हृदय में विद्यमान प्यार पर विश्वास है—

"कामना करें कि कम से कम भविष्य के लिए / वह छोड़ दे कोई गोपनीय सन्देश।"

'शाश्वत पचांग' में बल्गारियाई कवि से रोमांटिक कवि कीट्स जैसी पंक्तियां सुनने को मिलती हैं—

"हो नहीं सकता कोई भी / स्वयं शाश्वत / पर दे सकता है शाश्वतता /
एक उपहार में।"

चौंसठ पृष्ठों की इस पुस्तक के पन्नों की गिनती 'इनर कवर' से शुरू हो जाती है। ग्यारहवें पृष्ठ से कविताएं शुरू होती हैं और दस पृष्ठ रेखाचित्रों को समर्पित हैं। मुद्रण की खूबसूरती के लिए हर पृष्ठ का आधा हिस्सा ही पंक्तियों को मिला है। फिर भी कागज़, छपाई, जिल्द के खूबसूरत अन्दाज़ देख कर लगता है बीस रुपये कीमत ज्यादा नहीं है।

कुल मिला कर, हिन्दी कविता को बल्गारिया के इस उपहार के लिए डा० विमल और पोपोव बधाई के पात्र हैं।

—डा० ओम प्रकाश गुप्त



आपकी बात



अंक—60

शीराज़ा अंक 60 (दिसम्बर 1981—मार्च 1982) में 'अपनी बात' के अन्तर्गत 'प्रकाशकीय दृष्टिकोण, लेखकीय दृष्टिकोण व पाठक के दृष्टिकोण' पर आपका सपाट व स्पष्ट दृष्टिकोण पसन्द आया। जब बात चली थी तो कितना अच्छा होता यदि लगे हाथों 'सम्पादकों' के उस वर्ग के दृष्टिकोण पर भी चर्चा छेड़ लेते जिसके कारण नवोदित लेखकों की साहित्यिक प्रतिभा के विकास पर रोक लग जाती है।

नवोदितों को प्रोत्साहन देना सम्पादक के हाथ में है क्योंकि किसी रचना को पाठक के सामने लाने में सम्पादक एक सेतु की भूमिका निभाते हैं, पाठक की प्रतिक्रिया तो बाद की बात है।

शीराज़ा का प्रस्तुत अंक लगभग सारा ही पठनीय व रोचक लगा। लेखों में प्रो०

काशीनाथ दर का 'कश्मीर में हिन्दी का प्रचार-प्रसार' व डा० अनिल गोयल का 'जम्मू-कश्मीर की हिन्दी कहानी को देन' लेख ज्ञान-वर्धक तथा हिन्दी भाषा के प्रति मोह बढ़ाने वाले हैं।

कहानियों में सुशांत चौधरी की 'अन्तराल' डा० रवि डोगरा की 'खाली हाथों के घाव', राजकुमार दर की 'मौत', मजरूह पूर्वी की 'अभिलाषा' वास्तविकता से जुड़ी हुई सशक्त, प्रभावशाली व संवेदक रचनाएं लगीं। क्षमा कौल की कहानी 'न्यूज़ लैटर' राष्ट्रभाषा की दशा व्यक्त करती हुई एक नीरस रचना लगी। बशीर अख्तर की कश्मीरी कहानी 'सिंदबाद की आठवीं यात्रा' एक बिना सिर-पैर वाली रचना लगी जिसका कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा। बन्सी लाल कुचरू की 'धूप में वर्षा' कहानी को लेखक की भावुकता या शिशु मानसिकता की उपज ही कहूंगा—लगता है किसी क्षणिक मोह से प्रेरित होकर लेखक ने यह रचना लिखी है।

कविताओं में नीलिमा सिंह की कविता 'कितना दर्दनाक हुआ करता है' बड़ी मर्मस्पर्शी लगी, जगजीत राय की 'समय' व जसबीर राय की 'फिर भी कहीं से जुड़े-जुड़े' कविताए बहुत पसन्द आईं।

—उत्तम शर्मा

134, शेरवानी कालोनी, ख्वाजाबाग, बारामूला (कश्मीर)

अंक—61

★ जम्मू-कश्मीर से आप हिन्दी की एक उच्च स्तरीय पत्रिका निकाल रहे हैं...बधाई ! कश्मीर के हिन्दी रचनाकार से आप हिन्दी जगत को परिचित कराने का शुभ कार्य सफलता- पूर्वक कर रहे हैं। इसके साथ आप नवोनतम साहित्य-विचारधाराओं से भी अपने पाठक तथा रचनाकारों को परिचित कराने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

— जुगमन्दिर तायल

फ्रैण्डस कालोनी, अलवर—301001

★ पत्रिका बड़े अच्छे रूप में निकल रही है। अनेक रचनाएं प्रभावित करती हैं। इसके माध्यम से आप हिन्दी साहित्य की नवीन गतिविधिओं का परिचय दे रहे हैं, कश्मीर की कला-संस्कृति से लोगों को परिचित करा रहे हैं और नयी प्रतिभाओं को प्रकाश में ला रहे हैं—यह स्तुत्य कार्य है। बधाई !

—डा० सिद्धनाथ कुमार

आलोक, हेसल, रांची—834005

अंक—62

★ जुलाई अंक अच्छा लगा। आपका सम्पादकीय विचारोत्तेजक है तथा डा० रामदरश मिश्र का उपन्यास अंश भी महानगर के जीवन की अमानवीय परिस्थितियों को रेखांकित करता है। डा० राजपाल का लेख खरा है।

—डा० सुखवीर सिंह

6/370, ब्राह्मण गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली—32

★ कई रचनाओं ने मन को छुआ है...विशेष रूप से आपके सम्पादकीय ने।

—धर्मेन्द्र गुप्त

274, राजधानी एन्क्लेव, शकूर बस्ती, दिल्ली—110004

★ इस अंक में प्रो० सुभाष भारद्वाज के दो लेख पढ़ने में आये। "स्वाधीनता-पूर्व जम्मू में हिन्दी कविता" कुछ अधूरा सा लगा, इसमें कवियों की कविताओं के कुछेक उद्धरण दिए जाते तो पाठकों को कविता के स्वरूप को समझने में मदद मिलती। युवा कवि 'निर्मल विनोद' की कविता-संरचना आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। शशिशेखर की कविता भाव-सवेदना में उत्कृष्ट है। 'पक्षी-प्रसंग' (रवीन्द्रनाथ त्यागी) अनूठा रहा।

—डा० निज़ामुद्दीन

इस्लामिया कालेज, श्रीनगर—190002

★ राजकीय अनुदान से निकलने वाली तमाम पत्रिकाओं में 'शीराज़ा' का एक अलग व्यक्तित्व है।

—वाचस्पति

पो० जहरी खाल, 246109 (पौढ़ी गढ़वाल)

अकादेमी डायरी

※ 14 तथा 30 अक्तूबर 1982 को कालूचक तथा अभिनव थियेटर, जम्मू में सांस्कृतिक-संध्याओं का आयोजन किया गया। इस अवसर पर प्रदर्शित नृत्य एवं संगीत सभाओं में स्थानीय भाषाओं के लोक साहित्य पर आधारित रचनाओं को विशेष रूप से सराहा गया।

※ 22 तथा 23 अक्तूबर 1982 को अभिनव थियेटर, जम्मू में क्रमशः डोगरी तथा पंजाबी की गोष्ठियां आयोजित की गईं। डोगरी लिट्रेरी फोरम के अंतर्गत आयोजित गोष्ठी में डा० वीणा गुप्ता ने 'टोन शिफट इन डोगरी' विषय पर अपना खोजपूर्ण एवं विचारोत्तेजक लेख पढ़ा जिस पर बाद में उपस्थित विद्वानों ने भी अपने विचार व्यक्त किए। इसी प्रकार पंजाबी लिट्रेरी फोरम की गोष्ठी में डा० करतार सिंह सूरी ने श्री ओ० पी० शर्मा 'सारथी' के उपन्यास "बिन पैरां दे धरती" पर विशेष लेख का पाठ किया। इस पर खुली बहस में भी विद्वान वक्ताओं ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया।

※ 12 तथा 13 नवम्बर 1982 को अभिनव थियेयर, जम्मू में 'ऑन दा' स्पॉट पेंटिंग कम्पीटीशन' का आयोजन किया गया जिसमें विभिन्न शिक्षा संस्थानों के 27 विद्यार्थियों

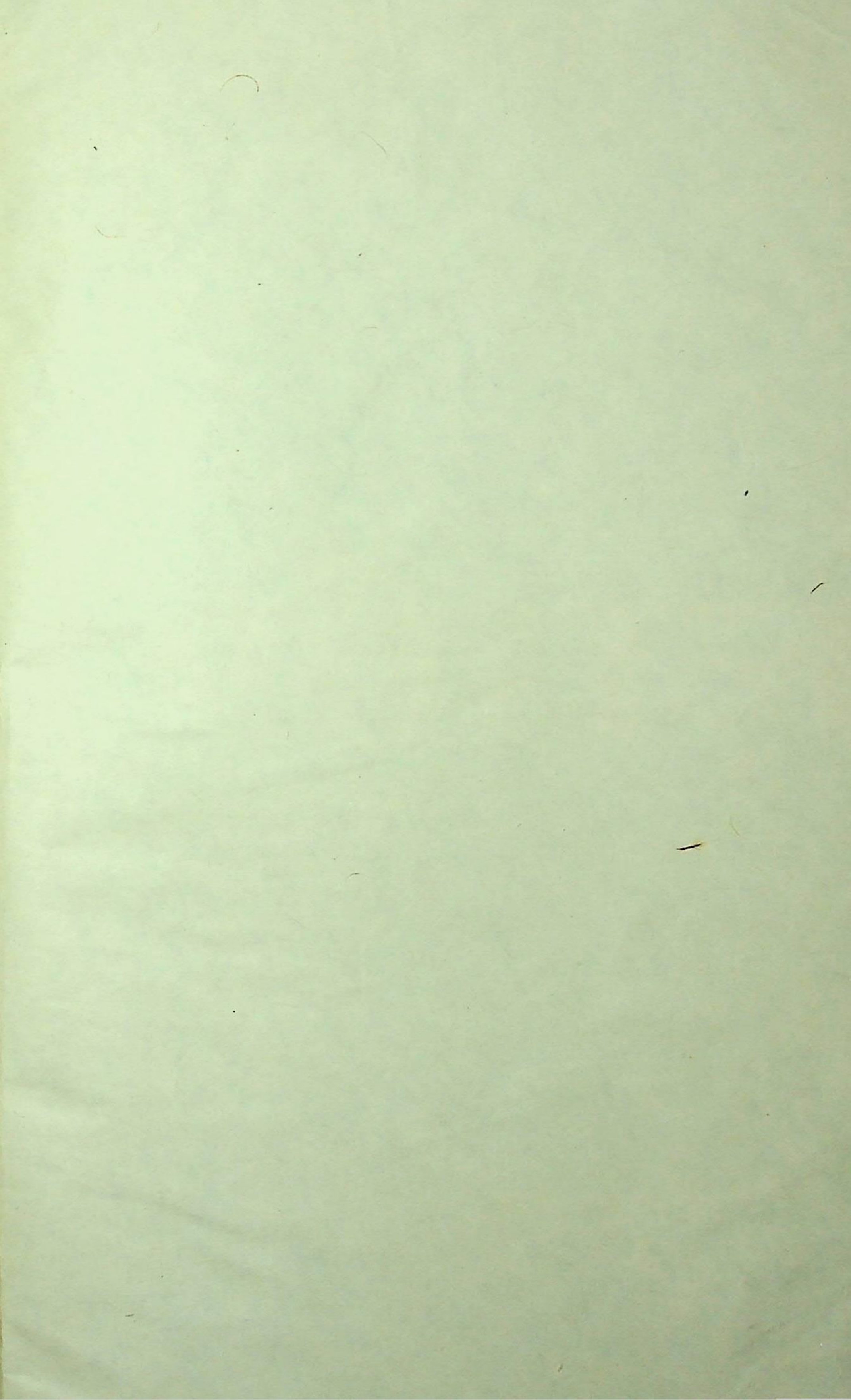
को पुरस्कृत किया गया। इसी प्रकार 23 से 25 नवम्बर तक 'ऑन दा स्पॉट म्यूज़िक कम्पीटीशन' का भी आयोजन किया गया। इस प्रतियोगिता में 39 उभरते हुए कलाकारों को विभिन्न पुरस्कारों द्वारा सम्मानित किया गया।

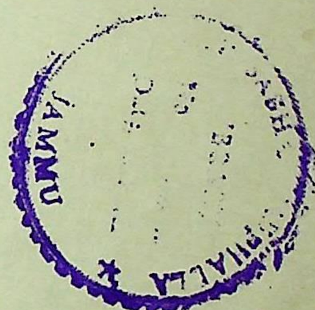
※ 2 से 6 नवम्बर 1982 तक अभिनव थियेटर, जम्मू में शास्त्रीय-संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें शास्त्रीय सगीत के गायन एवं वादन की विभिन्न शैलियों तथा विभिन्न साजों के माध्यम से स्थानीय कलाकारों ने अपनी कला का भरपूर प्रदर्शन किया। इस सम्मेलन में कुल 43 युवा तथा वरिष्ठ कलाकारों ने भाग लिया।

※ 29–30 अक्तूबर तथा 4 से 9 एवं 11 से 12 नवम्बर 1982 तक जम्मू में ग्रामीण अंचलों में, नाटकों के विकास को दृष्टि में रखते हुए, ज्योतिपुरम्, उधमपुर, रामनगर, थियाल, रामकोट, गढ़ी, जौड़ियां, देईचक, चोहाला, अरनिया, मकवाल तथा भड्डू आदि में नाट्य-महोत्सवों का आयोजन किया गया। इन महोत्सवों में 'हीर' (पंजाबी), 'कफन' (हिन्दी), 'डेढ़ रोटी' (हिन्दी), ढौंदियां कंधां (डोगरी), 'सुन्ना ते स्वार्थ' (डोगरी), 'चन्द्रमुखी' (हिन्दी), 'दुलारी बाई' (हिन्दी), 'सिंहासन खाली है' (हिन्दी) 'आन-मर्यादा' (डोगरी) 'जीने दी कैद' (डोगरी) तथा 'नमां ग्रां' (डोगरी) आदि नाटक प्रस्तुत किए गए। ज़िला जम्मू में आयोजित नाट्य महोत्सव में रामलीला क्लब, देई चक द्वारा मंचित नाटक 'हीर' तथा ज़िला उधमपुर की झंकार क्लब, ज्योतिपुरम् की प्रस्तुति 'दुलारी बाई' को एक-एक हज़ार रुपयों के पुरस्कारों से सम्मानित किया गया जबकि ज़िला जम्मू के अरनिया ग्राम की महावीर क्लब द्वारा प्रस्तुत 'कफन' ज़िला कठुआ के भड्डू ग्राम की कवि दत्तू साहित्य संस्था की प्रस्तुति 'सुन्ना ते स्वार्थ' तथा ज़िला उधमपुर के रामनगर कस्बे की शीशम ड्रामेटिक क्लब की प्रस्तुति 'सिंहासन खाली है' को सात-सात सौ रुपये के पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त प्रतियोगी नाट्य-दलों को श्रेष्ठ मंच-व्यवस्था, मेक-अप, संगीत, अभिनय, वस्त्राभूषण आदि के लिए 100/- रुपये से 150/- रुपये की राशि के अलग-अलग पुरस्कार भी प्रदान किए गए।

यहां इस तथ्य की ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा कि जम्मू में पारम्परिक रंगमंच की कोई सुव्यवस्थित एवं परिपुष्ट परम्परा नहीं है। ग्रामीण अंचलों में नाटक के नाम पर केवल राम-लीलाओं के प्रदर्शन की ही व्यवस्था है। इन परिस्थितियों में अकादेमी द्वारा आयोजित नाट्य-स्पर्द्धाओं के महत्व को सहज ही स्वीकारा जा सकता है।









द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

63

वर्ष 18 / 3 - 4
(अगस्त-नवम्बर, 1982)

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक
रमेश मेहता

पत्र-व्यवहार
सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी /
जे० एण्ड के० अकादेमी
ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड
लैंग्वेजिज, नहर मार्ग,
जम्मू ।
फोन : 5040

मुद्रक :
डोगरा प्रिंटिंग प्रेस,
कच्ची छावनी, जम्मू ।

यह अंक : चार रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम